कोठरी की बात

'अज्ञेय'

सरस्वती प्रेस,
बनारस।

भूमिका

इस संग्रह की पहली छः कहानियाँ जेल में लिखी गई थीं, और अन्तिम कहानी जेल से छूटने के तुरन्त बाद। जिस प्रकार के क्रान्तिकारियों का चित्रण इन कहानियों में है, उसका समय बीत चुका है; उस युग को हम पीछे छोड़ आये हैं। किन्तु उन क्रान्तिकारियों के जीवन के भीतर स्पन्दित मानवता इतनी जल्दी पुरानी पड़नेवाली चीज़ नहीं, ऐसा लेखक का विश्वास है। जहाँ तक राजनीति-शास्त्र का सवाल है, इन कहानियों का अधिक-से-अधिक ऐतिहासिक मूल्य हो सकता है; मानवीय सम्बन्धों और आकांक्षाओं के चित्रों के रूप में वे अब भी जीती हैं।

लेखक

सूची

छाया

मैंने बहुत फाँसियाँ देखी हैं—उन्हें देखने का आदी-सा हो गया हूँ। जब मेरी ड्यूटी फाँसी पर लगती है, तब मुझे घबराहट नहीं होती, मेरा जी नहीं मिचलाता। अपना काम पूरा करता हूँ और खुशी-खुशी चला आता हूँ, दूसरी बार मुझे उसका ख्याल भी नहीं होता। जैसा कहानियों में होता है, चलते-चलते ठिठक जाऊँ, खाना खाते-खाते चौंककर देखने लगूँ कि हाथों में ख़ून तो नहीं लगा है, सोते-सोते स्वप्न में चिल्ला उठूँ, यह सब मुझे न होता है, न कभी हुआ है। हाँ, उस एक फाँसी की याद भी मेरा दिल हिला देती है—इसलिए नहीं कि उसमें कोई ख़ास बात थी। नहीं, वह भी और फाँसियों की तरह एकदम मामूली फाँसी थी...पर उसके पहले और बाद की एक-दो घटनाएँ ऐसी थीं—और वह क़ैदी जो उस दिन फाँसी देखने के लिए आया था, उसके मुँह के भाव...शायद और फाँसियों की तरह मैं उस फाँसी को भी भूल जाता, लेकिन उस क़ैदी की याद एकदम फाँसी की याद दिला देती है...क़ैदी की, फाँसी की और उन दो-एक घटनाओं की कहानी एक-दूसरे से ऐसी जुड़ी हुई है कि एक का ध्यान आते ही सारी कहानियाँ आँखों के सामने फिर जाती हैं—और उस लड़की के पत्र की, उस बेंत लगने के नज़ारे की, और उस क़ैदी के गाने की याद मेरे आगे नाच उठती है:—

आसन तलेर माटिर परे लूटिए र'ब
तोमार चरण धूलाय धूलाय धूसर ह'ब !

बाईस साल से मैं जेल में वार्डरी करता हूँ, लेकिन ऐसी बात कभी नहीं देखी थी। और वार्डरों की तरह मैंने भी सब बदमाशियाँ की हैं, कैदियों को सिगरेट, तम्बाकू, सुलफ़ा, गुड़, सब कुछ लाकर देता हूँ, चिट्ठी भी अन्दर-बाहर पहुँचा देता हूँ, मशक़्क़त में भी गड़बड़ कर देता हूँ। नब्ज़ देखकर क़ैदियों की हर तरह से मदद करता हूँ, लेकिन पैसा लेकर। बिना पैसा गाँठे कभी किसी को एक बीड़ी तक नहीं दी। लेकिन उसकी आँखों में, आवाज़ में, कुछ जादू था—मैं उसका सब काम बिना कुछ लिए कर देता था—और काम भी छोटा-मोटा नहीं, दफ़्तर से चिट्ठियाँ तक चुरा लाता था...

मेरी औरत जेल की मेट्रन है। औरत होने की वजह से वह मुझसे

भी ज्यादा गड़बड़ करती रहती है। लेकिन वह जब मेरी करतूतें सुनती, तब घर में रार मच जाती—'इतने बड़े काम और एक पैसा भी नहीं ! किसी दिन फँस जाओगे, तो दोनों को सड़कों पर भूखे भटकना पड़ेगा। कभी-कभी दस-दस दिन तक एक दूसरे से बोलने की नौबत न आती... मैं वायदे करता, आगे से कभी ऐसा न करूँगा। लेकिन फिर, जब वह मुझे कुछ काम कहता, मैं भेड़-बकरी की तरह दबककर चुपचाप कर देता। जब वह खुश होकर कहता, 'मँगतू, तुम्हारा क़र्ज़ा कैसे चुकाऊँगा ?' तो मैं निहाल हो जाता, मेरी बाछें खिल जातीं...

उस दिन फिर मेरी और मेरी घरवाली की लड़ाई हो रही थी। इसी वक्त हेड वार्डर ने आकर बुलाया, 'मेट्रन !' हम दोनों बाहर चले आए। मैंने पूछा, क्या है ?'

वह बोला, 'एक औरत हवालात में आई है, खून के मामले में उसे बन्द करना है।'

मेट्रन जेल के भीतर चली गई। मैंने हेड वार्डर से पूछा, 'कैसी औरत है ?'

'मैंने देखी नहीं। कहते हैं कि इन्हीं बमबाज़ों में से है। पिस्तौल से तीन आदमी मार दिये और चार ज़ख्मी किये, फिर पकड़ी गई।'

'सुसमा या सुषमा, ऐसा ही कुछ नाम है। लेकिन पुलिसवाले कहते हैं कि उसका असली नाम कुछ और है।'

मुझे कुतूहल बहुत हुआ, लेकिन जनाने-वार्ड में तो जा नहीं सकता था। मैंने सोचा, 'वह' वापस आएगी तो उससे पूछूँगा।

पर आठ बज गए, 'वह' नहीं आई। मैं अन्दर अपनी ड्यूटी पर चला गया।

मेरी ड्यूटी चक्कियों पर थी। जो सबसे पहली कोठरी थी, उसमें वह क़ैदी रहता था। सारे जेल में वही एक 'पोलिटिकल' क़ैदी था। वैसे तो और भी 'पोलिटिकल' बहुत थे, लेकिन वे पिकेटिंग में तीन-तीन, छः-छः महीने की सज़ा लेकर आये थे और दूसरी तरफ़ बैरकों में रहते थे। वही अकेला था जिसे दस साल की सज़ा हुई थी। मैंने सुना था, उसने कई खून किये हैं; मगर सुल्तानी गवाह के पलट जाने से सबूत नहीं मिला, इसलिए दस ही साल की सजा रह गई। कुछ हो, वह बड़ा शान्त आदमी था और अपनी धुन में मस्त रहता था। एक बार मैंने उससे पूछा,

'अरुण बाबू, यह सब चिट्ठियाँ-विट्ठियाँ जो तुम मँगवाते हो, सो किस-लिए ?' तो वह हँसकर बोला, 'मेरे दस से पन्द्रह साल हो जायँगे, लेकिन एक बार सरकार की नाक में दम कर दूँगा।' मैंने बहुत पूछा, समझाकर कहा, पर वह हँसता ही रहा, और कोई जवाब नहीं दिया...

उसी की कोठरी के बाहर मैं बैठ गया,—वहीं मेरी ड्यूटी थी।

जेल की ड्योढ़ी में नौ बजे तो मैंने सोचा, अभी दो घण्टे और बैठना पड़ेगा...इसी सोच से बढ़ता-बढ़ता न-जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर लगा आया...यह नौकरी कैसी बुरी है, अठारह रुपये के लिये सोना तक हराम हो गया है! इससे अच्छा होता, कहीं स्टेशन पर कुलीगिरी करता—पर उसमें भी तो रात की गाड़ियाँ देखनी पड़तीं। कहीं टाँगा चलाया करता—दिन-भर की सैर होती और रात को मजे से घर आकर सोता...इस नौकरी में ऊपर के आठ-दस रुपये मिलते हैं, उसमें भी मिल ही जाते और इतनी चोरी, ऐसी लुक-छिप न करनी पड़ती। और न-जाने ऐसी कितनी अनाप-शनाप बातें सोचता रहा...

एकाएक मैं चौंका। दूर पर कोई औरत गा रही थी—गा क्या रही थी, एक बड़ी लम्बी तान लगा रही थी...उस आवाज में कितनी मिठास, कितनी कसक थी! मैंने ध्यान से सुना—आवाज़ जनाने-वार्ड से आ रही थी—पर पहले तो वहाँ कोई गानेवाली नहीं थी...यह वही सुसमा या सुषमा है...पर उस गाने से मानो आकाश भर गया था—मैं कुछ सोच नहीं सका, चुपचाप सुनने लगा...

वेदी तेरी पर मा, हम क्या शीश नवाएँ?
तेरे चरणों पर मा, हम क्या फूल चढ़ाएँ?
खड्ग हमारे हाथों में है,
लोह-मुकुट है शिर पर—
पूजा को ठहरें या समर-क्षेत्र में जाएँ?
मन्दिर तेरे में मा, हम क्या दीप जगाएँ?
कैसे तेरी प्रतिभा की हम ज्योति बढ़ाएँ?
शत्रु-रक्त की प्यासी है,
यह ढाल हमारी दीपक—
आरति को ठहरें या रण-प्रांगण में जाएँ?

लय टूट गई। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो धरती एक बार बड़े

ज़ोर से काँपकर रुक गई हो। मैं चुप बैठा रहा, शायद इसी आशा में कि वह फिर आएगी। और मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा। गाना फिर शुरू हुआ, पर पहले और इसमें कितना फ़र्क था! पहला था मानो खुशी से भरा हुआ, उछलता हुआ चला जा रहा हो, और यह—दबी हुई दर्द से, जलन से, भरा हुआ...मानो एक ग़रीब की आह लम्बी हो-होकर एक तान हो गई हो...

तन में तेरे चरणों की मैं धूमिल धूलि रमाये,
मन में तेरे मुख की आभा की मैं याद बसाये,
तुझे खोजती कहाँ-कहाँ पर भटकी मारी-मारी,
पर निष्ठुर तू पास न आया मैं रो-रो कर हारी!

मेरी जान तड़प गई। मैं और सुन नहीं सका, कुछ बोलने को जी चाहा। मैंने पुकारकर कहा, 'अरुण बाबू, गाना सुनते हो?' लेकिन कोई जवाब न आया। मैंने समझा, अरुण बाबू सो गये होंगे, चुप होकर बैठ रहा। वह तान फिर आई, पहले से भी अधिक ऊँची—उफ़!

आज लगा जब मेरा पिञ्जर उसी व्यथा से जलने,
तब तू आया उसी राख को पैरों-तले कुचलने!
भूला, भूला रहता, मैं भी समझा लेती मन को—
क्यों बिखराया फिर तूने आ गरीबिनी के धन को?

आह ठण्डी हो गई। मैंने कहा, 'अरुण बाबू!' कोई जवाब नहीं आया—आई कहीं से धीरे-धीरे रोने की आवाज़! मैंने कोठरी के पास जाकर देखा, वह क़ैदी दोनों हाथों से सीख़चे पकड़े, उन पर सिर रखे, सिसक-सिसककर रो रहा था। मैंने अचम्भे में आकर कहा, 'क्या बात है, अरुण बाबू?'

उसने मुँह फेर लिया। मैंने फिर कहा, 'छिः! अरुण बाबू, इतने बड़े होकर रोते हो?'

वह चुप हो गया। पाँच-सात मिनट चुप बैठा रहा। फिर बोला, 'मँगतू, यह कौन गा रहा था?'

मैंने जवाब दिया, 'एक नई औरत आई है, हवालात में। सुना है, उसने तीन पुलिसवालों को गोली से उड़ा दिया है।' फिर मैंने जो कुछ उसके बारे में सुना था, सब बता दिया। दो-एक मिनट चुप रहकर वह बोला, 'उसका नाम क्या है, जानते हो?'

'सुसमा या सुषमा, कुछ ऐसा ही है।'

उसने धीरे से कहा, 'सुषमा!' और चुप हो गया।

मैंने पूछा, 'अरुण बाबू, उसे जानते हो क्या ?'

उसने कुछ देर तो जवाब नहीं दिया; फिर बोला, 'वह मेरी बहिन है।'

मैंने कहा, 'जभी तो!'

जभी तो क्या, इसका जवाब मुझे खुद भी नहीं मालूम था। इतना कह चुकने के बाद मेरी और कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। उसी ने फिर पूछा, 'मँगतू, तुम मेट्रन को जानते हो ?'

मैंने कुछ हँसकर कहा, 'हाँ, क्यों ?'

'हँसते क्यों हो ?'

'कुछ नहीं, वह मेरी घरवाली ही है।'

'अच्छा, तो मेरा एक काम करोगे ?'

'क्यों ?'

'एक चिट्ठी उसे पहुँचानी होगी।'

मैंने चौंककर कहा, 'मेट्रन को ?'

'नहीं, उस—सुषमा—को।'

इसका जवाब देने से पहिले मैं कुछ देर सोचता रहा। उससे जब कहूँगा, चिट्ठी पहुँचा दो, तो वह क्या कहेगी ? आगे ही लड़ाई होते-होते बची थी! पर मैं इन्कार भी नहीं कर सकता था। मैंने कहा, 'काम तो जोखिम का है।'

'मँगतू, यह काम तुम्हें ज़रूर करना होगा। मैं जन्म-भर तुम्हारा उपकार मानूँगा।'

'अच्छा, तुम लिखकर दे दो।'

उसने अँधेरे में ही चक्की के नीचे से एक काग़ज़ का टुकड़ा और एक पेंसिल निकाली और कुछ लिखकर मुझे दे दिया। मैंने चुपके से काग़ज़ लेकर जेब में रखा और अपनी जगह जाकर बैठ गया। सोचता रहा कि कैसे काम करना होगा।

आखिर ग्यारह भी बज गये। दूसरा वार्डर आ गया, मैं उठकर घर पहुँचा। 'वह' चटाई बिछाये बैठी थी, मुझे देखकर बोली, 'खाना रखा है, जल्दी से खा लो।' मैंने चुपचाप खाना खाया। फिर जाकर बिस्तर पर बैठ गया और हुक्का पीने लगा। 'वह' मेरी ओर देखती हुई बोली, 'अब

सोओगे भी या सारी रात गुड़गुड़ी बजाओगे ?'

मैंने एक ओर कुछ सरककर कहा, 'यहाँ आओ, तुमसे कुछ बात करनी है।'

वह चारपाई पर मेरे पास आकर बैठ गई और बोली, 'क्या ?'

वह जो नई हवालातिन आई—सुषमा—वह ग़ज़ब का गाती है।'

उसने भौंहें तानकर कहा, 'तुमसे मतलब ?'

मैंने देखा, बिस्मिल्ला ही ग़लत हुआ। बात बदलकर बोला, 'योंही। आज दो रुपए गाँठे हैं।' यह कहकर मैंने धीरे से अपना जेब खड़का दिया।

देवी कुछ शान्त हुई। बोली, 'कैसे ?'

'उसी पोलिटिकल ने दिये हैं—एक चिट्ठी पहुँचाने के लिए। पर वह काम तुम्हें करना होगा।'

'क्या ?'

'इसी सुषमा को एक चिट्ठी पहुँचानी है।' कहते हुए मैंने वह चिट्ठी जेब से निकाल ली।

उसने एक बार तीखी नज़र से मेरी ओर देखा, फिर चिट्ठी मेरे हाथ से लेकर पढ़ने लगी।

मैंने कहा, 'यह क्या करती हो ?' किन्तु टोकते-टोकते मुझे ख़ुद भी पढ़ने की चाह हुई। मैंने झुककर पढ़ा, सिर्फ दो-तीन सतरें लिखी हुई थीं।

'बहिन सुषमा—तुम्हारा गायन सुनकर मुझे कुछ याद हो आया। तुम शारदा को जानती हो—और उस नाव की दुर्घटना को ?—अरुण।'

बाईं ओर कोने में लिखा था, 'वाहक विश्वस्त है।'

पत्र पढ़कर देवी का कोप कम हो गया। बोली, 'पहुँचा दूँगी। पर समझ में तो कुछ आया नहीं !'

मैंने कहा, 'समझकर क्या करोगी ? जिनका काम है, वे जानें। पर सबेरे ही पहुँचा देना। शायद जवाब भी—'

सबेरे उठते ही 'वह' भीतर चली गई, और थोड़ी देर बाद वापस आ गई। मैंने पूछा, 'क्यों ?' उसने बिना जवाब दिये वही चिट्ठी लौटा दी। उसी के एक कोने में लिखा था—'सुषमा शारदा को जानती है—और उस दुर्घटना को भी। विस्तार फिर।' मैंने काग़ज़ जेब में रख लिया। 'वह' बोली, 'दाम के हिसाब से काम तो कुछ भी नहीं था।' मैंने मन-ही-मन हँसकर कहा, 'इससे हमें क्या मतलब ? हम अपना काम पूरा करते

हैं।' कहकर मैं फिर अपनी ड्यूटी पर चला गया। कोठरियाँ खोलकर क़ैदियों को कारखाने में पहुँचाना था।

सब कोठरियाँ खोलकर मैं उसकी कोठरी पर पहुँचा। दरवाज़ा खोल-कर मैंने कहा, 'अरुण बाबू, चलो कारखाने में।' कहते-कहते मैंने वह चिट्ठी उसके हाथ में दे दी। उसने कहा, 'आज तबीयत ठीक नहीं, मैं काम पर नहीं जाऊँगा।'

'तो फिर डाक्टर को रिपोर्ट करनी होगी।'

'कर दो।'

'वे अभी यहाँ आएँगे।' कहकर मैंने आँख से इशारा किया।

वह बोला, 'हाँ, हाँ, आने दो।' और कुछ मुस्कराया। मुझे तसल्ली हो गई कि उसने इशारा समझ लिया है। मैं कोठरी बन्द कर डाक्टर को बुलाने चला गया।

जब मैं डाक्टर के साथ वापस आया तब वह कुछ चबा रहा था। हमें देखकर जल्दी से निगल गया। मैंने मन-ही-मन कहा, 'ठीक है, चिट्ठी तो गई।'

डाक्टर ने क़ैदी से कहा, 'ज़बान दिखाओ।'

क़ैदी ने ज़बान निकाल दी। डाक्टर उसे देखने को झुका और बहुत धीरे-धीरे बोला, 'अगर तुम चाहो तो मैं तुम्हारी मदद कर सकता हूँ।'

क़ैदी ने मुस्कराकर उसी तरह धीरे-धीरे उत्तर दिया, 'मेरे पास कुछ नहीं है। और होता भी तो...''

मैं मुँह फेरकर हँसा। डाक्टर बोला, 'क़ैदी बीमार नहीं है, बहाना करता है। साहब को रिपोर्ट करो,' कहकर वह चला गया।

मैंने कहा, 'अरुण बाबू, तुमने अच्छा नहीं किया।' उसने हँसकर जवाब दिया, 'मुझे अब किसी की परवाह नहीं है।'

आधे घण्टे के बाद हेड वार्डर और डिप्टी के साथ साहब आये। उन्हें देखकर क़ैदी उठा नहीं—वहीं बैठा रहा। साहब ने डपटकर पूछा, 'काम पर क्यों नहीं जाता?'

उसने शान्त भाव से उत्तर दिया, 'तबीयत ठीक नहीं है।'

साहब ने कहा, 'ट्वेण्टी स्ट्राइप्स!' और चले गये। जाने पर मालूम हुआ—बीस बेंत का हुक्म दे गये हैं।

हेड वार्डर उसे उसी वक्त ले गये। मैं सन्न हुआ। अपनी ड्यूटी पर बैठा रहा...

आधे घण्टे बाद वह वापस आ गया। शरीर पर सिर्फ़ एक लँगोट—वह भी लहू से भीग रहा था। हाथ में अपने कपड़े लिए, अकड़ता हुआ आया और कोठरी में चला गया। हेड वार्डर ने कहा, 'बन्द कर दो।' वह हँसकर बोला, 'काम पर तो नहीं गया।' हेड वार्डर चला गया। मैं अपनी जगह जाकर बैठ गया, आज उससे बात करने की हिम्मत नहीं थी।

ग्यारह बजे ड्यूटी ख़त्म करके घर पहुँचा, तो देवी मुँह लटकाये बैठी थीं। मैंने पूछा, 'आज उदास क्यों हो?' उसने मानो सुना ही नहीं। बोली, 'आज जिसको बेंत लगे हैं, वही है अरुण बाबू?'

'हाँ।'

'बड़ा बाँका जवान है।'

मैंने डरते-डरते कहा, 'मैं तो सदा से कहता हूँ।'

'लेकिन तुम मर्दों की अक़्ल का क्या एतबार?'

मैं चुप रहा। थोड़ी देर बाद मैंने पूछा, 'तुमने कहाँ देखा?'

'जब बेंत लगाने लाये थे, तब।'

'फिर?'

'साहब आये थे, इसलिए मैं सब औरतों को लिए परेड करने को अपने वार्ड के बाहर जँगले में खड़ी थी। सामने ही टिकटी खड़ी थी, उसी ओर हम देख रहे थे। इसी वक्त वह लँगोट बाँधे आया और अकड़-कर टिकटी पर खड़ा हो गया। यह लड़की सुषमा उसको देखकर काँप गई, फिर मेरे पास आकर बोली, "यह क्या हो रहा है?"

'मैंने कहा, बेंत लगेंगे। वह बोली, "बेंत!" फिर सीख़चों को पकड़-कर खड़ी हो गई। उसका मुँह लाल हो आया, पर वह कुछ बोली नहीं।'

'फिर?'

'उसने भी सुषमा को देखा। देखकर चौंका, मुस्कराया, फिर एकटक देखता ही रहा। जितनी देर बेंत लगते रहे, दोनों हिले तक नहीं—वैसे ही एक दूसरे की ओर देखते रहे। फिर जब वे उसे टिकटी से उतारकर ले गये, तब वह घूमी और "भइया!" कहकर धरती पर बैठ गई...'

'फिर?'

'फिर मैंने उसे हिलाया, तब मानो स्वप्न से जागकर उठी, चुपचाप मेरे साथ अन्दर चली आई। मैंने ढाढ़स देने को कहा,—"बहिन, ऐसा होता ही रहता है।" उसने सिर झुकाए ही कहा, "इस वक्त जाओ!" मैं चली आई।'

मैं चुपचाप खाना खाने बैठ गया।

इसके बाद चार-पाँच दिन कुछ भी नहीं हुआ। मैं रोज़ रात को अपनी ड्यूटी पर जाता और पूरी करके चला आता...सुषमा का गाना रोज़ वहाँ सुनाई पड़ता था—

भूला-भूला रहता, मैं भी समझा लेती मन को—
क्यों बिखराया फिर तूने आ गरीबिनी के धन को?

मैं चुपचाप सुनता रहता था—और वह क़ैदी भी। उसके बाद वह कभी रोया नहीं। न मेरी ही हिम्मत पड़ी कि उससे बात करने जाऊँ...

पर पाँचवें दिन वह आई और बोली—'दीखता है, दो रुपए में बहुत चिट्ठियाँ पहुँचानी पड़ेंगी; पर उस लड़की में कुछ अजब गुण है, ना करते नहीं बनता।'

मैंने मन-ही-मन कहा, 'मुझ ही पर ऐंठती थीं। प्रकट बोला, 'क्यों—कोई और चिट्ठी है क्या?'

'हाँ, यह लो', कहकर उसने पाँच-छः लिखे हुए काग़ज़ मेरे हाथ पर रख दिये।

मैंने कहा, 'यह चिट्ठी नहीं, यह तो चिट्ठा है।'

वह कुछ नहीं बोली, मैंने चिट्ठी जेब में रख ली।

कुतूहल बड़ी बुरी चीज़ है। जब से चिट्ठी मेरे हाथ में आई, मैं यही सोचता रहा, कब वह जाय और मैं इसे पढ़ूँ। उसके सामने पढ़ते डर लगता था—अपनी मर्दानी शान भी तो रखनी थी! अभी उस दिन मैंने उसे अरुण की चिट्ठी पढ़ने से टोका था। बाद में खुद पढ़ ली, सो दूसरी बात है, मना तो कर दिया था न...

आखिर वह अपनी ड्यूटी पर गई। मैं चिट्ठी लेकर पढ़ने बैठा। पढ़ते वक्त मुझे यह ख़्याल न था कि मैं अरुण बाबू से धोखा कर रहा हूँ। उनका काम तो इतना ही था कि चिट्ठी पहुँचा दूँ, किसी ग़ैर के हाथ में न पड़े। मैं कोई ग़ैर थोड़े ही था? और फिर जब पढ़कर मैं उसे अपने मन में ही रखता था, किसी से कहता नहीं था, तब पढ़ने में क्या हर्ज था?

ख़ैर, मैंने बैठकर चिट्ठी तो पढ़ डाली। कुछ समझ में आई, कुछ नहीं; पर मैंने एक अक्षर भी न छोड़ा...

'भइया, सोमवार।

उस दिन तुम्हारा पत्र पाकर मुझे कितना विस्मय हुआ, सो मैं ही

जानती हूँ। शायद तुम्हें मेरे गाने की आवाज़ सुनकर भी इतना विस्मय न हुआ हो। मैं नहीं जानती थी कि तुम इसी जेल में हो—पर तुम तो शायद यह भी नहीं जानते थे कि मैं जीवित हूँ या नहीं...

'तुम्हें बहुत कुतूहल होगा, इसलिये पहले शारदा की ही कहानी कहूँगी। अपनी कहानी के लिए फिर भी बहुत समय लगेगा। उस दिन, जब तुम और शारदा नाव में बैठकर झील के किनारे की गुफा में सामान इत्यादि छिपाने के लिए घुसे थे, समुद्र में ज्वार आने से झील का पानी चढ़ गया था—गुफा भर गई थी...उसके बाद नाव उलट गई और तुम बाहर आये तो देखा शारदा का कोई पता नहीं है...वह सब मैं यहाँ बैठे स्मृति-पटल पर देख सकती हूँ; उसे दुहराने में कोई लाभ नहीं है...पर शारदा डूबी नहीं थी। उसी टूटी नाव के एक तख्ते पर बहती हुई वहाँ से दस-बारह मील दूर किनारे लगी। दो दिन एक मछुए के झोपड़े में रही, तीसरे दिन वहाँ से चलकर रात को अपने घर पहुँची। अभी घर के बाहर ही थी कि उसने घर से बहुत-से व्यक्तियों के रोने की आवाज़ सुनी। एकाएक किसी भयंकर आशंका से वह काँप गई...कहीं अरुण का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ...पर रोनेवालों में उसने अरुण का भी स्वर सुना, और शान्त होकर सोचने लगी—क्या यह रोना मेरे ही लिये तो नहीं है? कैसी विचित्र दशा थी वह! शारदा जीती-जागती बाहर खड़ी, और अन्दर लोग उसकी मृत्यु पर रो रहे थे!

'तुम जानते ही हो, शारदा कैसी विचित्र लड़की थी। इस दशा में उसने जो निर्णय किया, उसमें शारदा का व्यक्तित्व साफ़ झलकता है। उसने सोचा, जो काम आज कर रही हूँ, उसमें किसी-न-किसी दिन घर छोड़ना ही पड़ेगा—शायद जेल जाना पड़े, शायद मृत्यु का भी सामना करना पड़े। इन सबके लिए कितना दुःखमय दिन होगा वह! इससे कहीं अच्छा है कि आज ही मैं गुम हो जाऊँ। ये तो मुझे मृत समझते ही हैं... अब मेरा व्यक्तित्व कुछ नहीं रहेगा। शारदा का भूत ही सब काम करेगा—लोग पकड़ेंगे तो किसे? वारण्ट निकालेंगे तो किसके नाम?

'वहाँ खड़ी शारदा ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें सोचती रही। एक बार उसकी इच्छा हुई, भीतर जाकर अरुण से मिलूँ; उसे सारी कथा समझा दूँ। पर फिर और लोग भी तो देख लेते...और शायद अरुण भी उसकी बात न मानता...

'फिर, जैसी कि उसकी आदत है; उसने एकाएक निर्णय कर लिया। मुख मोड़कर वहीं से लौट गई। शायद उसकी आँखों में आँसू भी थे—मुझे याद नहीं है।

'अब उसे एक और चिन्ता हुई। वह जिस क्षेत्र में काम करती थी, उसमें तो सब अरुण के परिचित थे। वहाँ काम करना और अरुण से छिपना असम्भव था। क्षण-भर के लिए शारदा असमञ्जस में पड़ गई। फिर उसने कहा, काम में हाथ डालकर छोड़ना शारदा का नियम नहीं है। अब जैसे हो, निभाना पड़ेगा।

'इसी दृढ़-निश्चय से वह कलकत्ते गई। वहाँ उसने एक छोटी-सी समिति स्थापित की और काम करने लगी...वह जो मोटर में से एक स्त्री और दो युवकों ने गोली चलाकर तीन-चार पुलिसवालों को घायल किया था, उसकी नेत्री शारदा ही थी। उसके बाद जो कलकत्ते के पास ही एक बम-दुर्घटना हुई थी, उसमें भी शारदा बाल-बाल बच निकली थी। फिर पटने में जो रात में थाने में बम गिरा था, वह भी उसी का काम था। पर उसके बाद न-जाने कैसे पुलिस को उसका पता लग गया; उसके वारण्ट निकल गये—दो-तीन विभिन्न नामों से। तब उसको मालूम हुआ कि उससे निर्णय करने के समय एक छोटी-सी भूल हो गई थी—नाम को भूत होने पर भी उसका शरीर स्थूल था, और उसके काम भूत के नहीं, मानवों के थे। उसके बाद वह एकदम लापता हो गई—किसी ने उसका नाम नहीं सुना, न उसका काम ही। बस, यहीं तक है शारदा की कहानी।

'अब अपनी कहानी कहूँ। तुम्हारे क्षेत्र में मैं बहुत देर तक काम करती रही। तुम्हारे पकड़े जाने से काम अस्त-व्यस्त हो गया था, इसलिए हमारा काम प्रायः संगठन का ही था। गाँव में छोटी-छोटी सेवा-समितियाँ बनाकर और उनके मुखियाओं को दीक्षा देना, स्कूलों में छोटे-छोटे क्लब और यूनियन बनाकर उन्हें किताबें पढ़ानी, बाहर सैर करने ले जाकर संगठन इत्यादि के सिद्धान्त समझाने, शहर के मुहल्लों में वालण्टियर-दल स्थापित करके उन्हें चुपचाप फ़ौजी शिक्षा देनी, मोटर और टैक्सी-ड्राइवरों का यूनियन बनाकर उन्हें उनका महत्त्व समझाना, यही हमारा विशेष काम था। मैं स्वयं तो खुल्लमखुल्ला फिर नहीं सकती थी, लेकिन देवदत्त, जयन्त, विश्वनाथ और उनके साथी बड़े उत्साह से मेरी सहायता करते रहे। (मैंने जो नाम लिखे हैं, उनका किनसे आशय है, तुम समझ ही जाओगे।)

जो मैं उन्हें बताती, वे उससे भी बढ़कर काम करते थे।

'जब हमारा संगठन पर्याप्त हो गया, तब हमने कुछ और अस्त्र मँगाने का विचार किया। इसके लिए धन की आवश्यकता थी और वही प्राप्त करने के लिए मैं यहाँ आई थी। पर यहाँ दुर्भाग्य से तुम्हारे 'चचा' (किनसे अभिप्राय है, समझ लेना) ने मुझे देखा, और न-जाने उन्हें क्या सन्देह हो गया... मैं बहुत भागी, पर जाती कहाँ? स्टेशन के पास ही पुलिस से सामना हो गया। मेरे पास दो रिवाल्वर थे और ३६ गोलियाँ। मैंने सोचा, आज पुराने अरमान निकाल लूँ। दो-दो बार मैंने दोनों रिवाल्वर खाली किये, तीसरी बार भरने का समय ही नहीं मिला... पर मुझे दुःख नहीं है, मेरे वार खाली नहीं गये।

'मेरा क्या निर्णय होगा, यह मैं जानती हूँ। झूठी आशाओं से मैं अपने को बेवकूफ़ बनाना नहीं चाहती। तुम भी मेरे विषय में कोई आशा मत बनाये रखना—इससे कोई लाभ नहीं होता। उल्टे निराश होने पर व्यथा अधिक होती है।

बुधवार।

'यहाँ तक पत्र लिखकर मैं बहुत देर सोचती रही हूँ। कैसे-कैसे विचित्र विचार मन में आते हैं!

'भइया, क्या ही अच्छा होता, अगर मैं किसी और स्थान में पकड़ी जाती और वहीं मेरा निर्णय हो जाता! कोई जान भी न पाता कौन थी, कहाँ से आई थी... और शारदा—वह भी वहीं झील में डूबी रहती, उसे निकलकर फिर लुप्त न होना पड़ता! हम दोनों ही इस वर्तमान अतीत में छिपी रहतीं—इस प्रकार दुबारा जीकर तुम्हारे आगे न मरना पड़ता। कैसी सुखद, कैसी शान्ति-प्रद मृत्यु होती वह!

'यहाँ आकर भी संभव था कि मैं चुपचाप अपना दण्ड भुगत लेती! किन्तु इस प्रकार, इसी जेल में तुम्हारे होते हुए बिना परिचय दिये मैं मर जाऊँ, इतनी शक्ति मुझमें नहीं है। परिचय के बाद मेरे दण्ड पाने पर तुम्हें कितना दुःख होगा, इसका कुछ अनुमान कर सकती हूँ, और शायद हम अब फिर मिल भी नहीं सकेंगे। उस दिन भी एक विचित्र संयोग से ही—जिस अवस्था में मैंने तुम्हें देखा था, उसे सौभाग्य कहना सौभाग्य का उपहास करना है—मैं तुम्हें देख पाई थी। अब सुषमा अन्धकार में लुप्त हो जायगी और अरुण देख भी न पाएगा।

'यह सब होते हुए भी मेरा मन कहता है कि तुम्हें मेरे परिचय दे देने के बाद मरने में जो दुःख होगा, वह इसकी अपेक्षा कहीं शान्तिकर होगा कि मेरी मृत्यु के बाद तुम यह जान जाओ कि मैं इसी जेल में रहकर, दण्ड पाकर, मरकर भी अपने को तुमसे छिपाती रही...

'भइया, मेरे सामने ही तुमने ममता और भावुकता को पीस डाला था और उनकी राख पर खड़े होकर एक महान् व्रत धारण किया था...अब तुममें दृढ़ता है, धैर्य्य है, शान्ति है। तुम इस कहानी को सुनकर दुखित होओगे, पर विचलित नहीं, इसी विश्वास से मैंने पत्र लिखा है। अगर मुझे यह विश्वास न होता, तो शायद मैं तुम्हारे पत्र का पहला उत्तर भी न देती...

'पर माता-पिता में यह धैर्य्य कहाँ, यह दृढ़ता कहाँ ? हमारे दुःखों को देखकर उनकी ममता तो बढ़ती ही रहती है। उनके लिए शारदा को डूबी ही रहने देना—उसे जिलाकर फिर उनकी आँखों के आगे बुझाना मत! और सुषमा—सुषमा तो छाया थी—उसके लिए माता-पिता कहाँ, उसके लिए ममत्व का भाव किसके हृदय में होगा ? वह छाया थी—छाया की तरह किसी दिन छिप जायगी—उसे कौन रोएगा, अरुण...'

बस, सितार की टूटी हुई तार की तरह चिट्ठी यहाँ एकदम खत्म होगई। चिट्ठी पढ़ने से पहले मुझे जितना कुतूहल था, पढ़कर उससे कहीं अधिक बढ़ गया...यह शारदा कौन है, और सुषमा कौन ? सुषमा छाया है—इसका क्या मतलब ? मैं बैठा-बैठा इसी उलझन को सुलझाने की कोशिश में लगा था...इसी बीच में मुझे ख्याल आया, इस चिट्ठी में तो बड़ी-बड़ी बातें लिखी हैं—बड़े पते की। अगर...

मेरे मन में जो ख्याल आया—उससे मेरे तन में बिजली-सी दौड़ गई। अगर मैं यह चिट्ठी पुलिस को दे दूँ...कितना इनाम...

फिर एकाएक उस क़ैदी का मुँह मेरे सामने आ गया—और उस लड़की का गाना मेरे कानों में गूँजने लगा—

आज लगा जब मेरा अन्तर उसी व्यथा से जलने—
तब तू आया उसी राख को पैरों-तले कुचलने !

मैं बैठा हुआ था, खड़ा हो गया। खड़े होकर मैंने जोर से कहा, 'कमीने !' पर जो शर्म का समुद्र एकाएक उमड़ आया था, वह उतरा नहीं। मैंने फिर कहा, 'कमीने ! दग़ाबाज़ !' तब मन को कुछ शान्ति हुई।

मैं डयूटी पर तो चला गया, पर उस क़ैदी के सामने नहीं हुआ। मुझे

अभी तक शर्म आ रही थी कि मैंने कैसी कमीनी बात सोची थी...वह चिट्ठी मेरी जेब में ही पड़ी रही। पर जब रात की ड्यूटी पर गया, तब मैंने देखा, वह रोज़ की तरह दरवाज़े पर सीख़चे पकड़े बैठा है। मैंने धीरे से कहा, 'अरुण बाबू, यह लो।' उसने चुपचाप चिट्ठी लेकर दूर की बिजली की धीमी रोशनी में धीरे-धीरे पढ़ी। फिर बिस्तर में रख ली।

थोड़ी देर मैं चुपचाप खड़ा रहा। फिर न-जाने कैसे, एकाएक पूछ बैठा, 'बाबू, शारदा कौन है ?'

पूछकर मैं सहम-सा गया ! उसने मेरी ओर देखा और फिर धीरे से कहा, मानो अपने आपसे बातें कर रहा हो, 'तुमने मेरी चिट्ठी पढ़ ली।'

मैंने कुछ नहीं कहा। कहता क्या ?

उसने आप ही फिर कहा, 'ख़ैर, अब छिपाने में क्या रखा है ? शारदा मेरी बहिन है।'

मैंने डरते-डरते पूछा, 'तो यह—सुषमा ?'

उसने बड़ी अजीब निगाह से मेरी ओर देखा। मुझे मालूम हुआ मानो मेरा अन्दर-बाहर सब एक ही नज़र में देख गया। फिर उसने बहुत धीरे से कहा, 'शारदा और सुषमा—एक ही के दो नाम हैं...'

पहले मैं इस बात का पूरा मतलब ही नहीं समझा। फिर धीरे-धीरे जब समझ में आने-लगा तब मैंने कहा, 'अयँ !' और उठकर बाहर चला आया। आते-आते जो आवाज़ आई, उससे मैंने जान लिया कि वह चिट्ठी फाड़-फाड़कर खा रहा है...

बाहर वह गा रही थी—

> तुझे खोजती कहाँ-कहाँ पर भटकी मारी-मारी—
> पर निष्ठुर तू पास न आया मैं रो-रोकर हारी !

मेरी ड्यूटी वहाँ से बदलकर एक महीने के लिए ड्योढ़ी में लग गई। यहाँ से जनाना-वार्ड बिलकुल पास था। सुषमा का गाना कितना साफ़ सुन पड़ता था ! कभी-कभी जेल के क्लर्क भी शाम को आकर बैठ जाते और वह गाना सुनकर चुपके से चले जाते थे।...

एक दिन मैंने उसको देखा भी...और अब भूलूँगा नहीं—ऐसी सूरत थी वह !

शाम हो रही थी। मैं बैठा सोच रहा था, कब शाम हो और मुझे छुट्टी मिले...इसी वक्त किसी ने कहा, 'फाटक खोलो !' मैंने खोल दिया। आठ-

दस पुलिस के सिपाही एक लड़की को साथ लेकर अन्दर चले आये...
मुझे किसी ने कहा नहीं, पर मैं देखते ही जान गया कि यही सुषमा है...

उसके दोनों हाथों में हथकड़ी लगी थी, पर कितनी शान से चलती थी वह ! बाल खुले हुए थे—तन पर चौड़ी लाल किनारीवाली सफ़ेद धोती थी। बड़ी-बड़ी आँखें थीं—एक बार उसने मेरी ओर देखा—ऐसे देखा मानो मैं उसके आगे होऊँ ही न, सिर्फ़ खाली हवा ही हो !—फिर भी मुझे मालूम हुआ जैसे उसने मेरी सब करतूतों—नई-पुरानी, अच्छी-बुरी—सभी को खुली किताब की तरह पढ़ लिया हो ! मुँह पर उसके हलकी-सी हँसी थी, ऐसी मानो कई सालों से वहाँ उसी तरह जमी हुई हो...

वे उसे अन्दर डिप्टी के दफ्तर में ले गये। मैं भी दबककर पीछे खड़ा हो गया।

डिप्टी ने वारण्ट देखकर कहा, 'हैं ?' फिर कुछ रुककर पूछा, 'अपील करोगी ?'

उसने हँसकर कहा, 'नहीं।'

डिप्टी ने दया से उसकी ओर देखा, फिर कहा, 'ले जाओ।'

सिपाही चले गये। थोड़ी देर बाद मेट्रन आई उसे अन्दर ले जाने को। मैं उस वक्त तक चुपचाप उसी की ओर देख रहा था—मेट्रन के आने पर मैंने मुँह फेर लिया।

मेट्रन ने उससे पूछा, 'क्यों, सुषमा, क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं, फाँसी की सज़ा हो गई है।'

'हैं ?'

मैंने चुपचाप अन्दर का दरवाजा खोल दिया...वे दोनों अन्दर चली गईं...मैंने देखा, मेट्रन की आँखों में भी आँसू हैं...

उस दिन सुषमा का गाना नहीं सुन पड़ा। उसके दूसरे दिन भी नहीं। पर तीसरे दिन...तीसरे दिन उसने एक नया गाना गाया...गाना क्या था, एक चिनगारी थी...एक जलता हुआ सन्देश था—न जाने किसको...

दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे ?
तारें वीणा की टूटेंगी—लय को कहाँ दबाओगे ?
फूल कुचल दोगे तो भी सौरभ को कहाँ छिपाओगे ?
मैं तो चली, चली अब पर तुम क्योंकर मुझे भुलाओगे ?

तारागण के कम्पन में तुम मेरे आँसू देखोगे,
सलिला की कलकल ध्वनि में तुम मेरा रोना लेखोगे।
पुष्पों में, परिमल समीर में, व्याप्त मुझी को पाओगे—
मैं तो चली, चली, पर प्रियवर ! क्योंकर मुझे भुलाओगे ?

इसके बाद वह रोज़ यही गाने लगी...अपील की मियाद के सात दिन पूरे हो गये, उसने अपील नहीं की...फिर एक दिन सुना, मैजिस्ट्रेट आकर तारीख दे गये हैं—चौदह दिन बाद फाँसी हो जायगी...

मेरी ड्यूटी ड्योढ़ी पर थी—मैं अन्दर नहीं जा पाता था। मेट्रन जाती थी, पर सुषमा 'कोठीबन्द' थी, वहाँ वह भी नहीं जा पाती थी...कई बार जी में होता, जाकर अरुण को या उसे देख आऊँ, पर ड्योढ़ी की ड्यूटी का एक हफ़्ता भर बाकी था। मैं जलता, छटपटाता, मन मसोसकर रह जाता...

आखिर मेरी बदली हो ही गई। पर जब मैं उसकी कोठरी के पास ड्यूटी पर पहुँचा, तो आगे जाने की हिम्मत नहीं हुई। वह सुषमा का हाल पूछेगा—तो मैं क्या कहूँगा ?

पर एक जगह बैठा भी नहीं गया। मैं धीरे-धीरे टहलने लगा। उसने मुझे देख लिया और पुकारा, 'मँगतू !'

मैं चुपचाप उसके पास चला आया। उसने पूछा, 'कहो, कैसा हाल है ?'

मैंने अनमने-से होकर कहा, 'अच्छा है।'

उसने फिर पूछा—'उदास क्यों हो ?'

मैंने जवाब नहीं दिया।

'उस सुषमा की भी कोई ख़बर है ?'

मैंने फिर कुछ नहीं कहा। 'नहीं' कहता तो कैसे और बताता तो क्या ? सिर्फ़ एक बार उसकी ओर देख दिया।

वह मेरे मन की बात समझ गया। बोला, 'उसे जो सज़ा हो गई है, सो मुझे पता है। मैं उसके गाने से समझ गया था। कोई और ख़बर है ?'

मैंने धीरे-धीरे कहा, 'हाँ। उसने अपील नहीं की, तारीख़ लग गई है।'

'कब ?'

'अगले मंगल को।'

'बस छः ही दिन ?'

'हाँ।'

इसके बाद वह बहुत देर तक चुप रहा। कुछ सोचता रहा। फिर एक लम्बी साँस लेकर बोला, 'साहब कब आयेगा ?'

सवाल पर मुझे कुछ अचरज-सा हुआ। मैंने कहा, 'सोमवार को। क्यों ?'

'योंही। हाँ, एक चिट्ठी पहुँचाओगे ?'

'वह कोठीबन्द है, काम मुश्किल है। पर देखो, शायद दाँव लग जाय।'

उसने एक छोटी-सी चिट्ठी लिखकर दे दी। मैंने उसे जेब में डालते-डालते मन में कहा, 'इसको नहीं पढ़ूँगा।'

मैं यह सोचता-सोचता घर पहुँचा कि कैसे कोठरी तक पहुँच पाऊँगा। वहाँ जाकर देखा, चूल्हा नहीं जला है—देवी गुस्से में भरी बैठी हैं। मैंने वर्दी उतारकर टाँगते हुए पूछा, 'क्या बात है ?'

वह झुँझलाकर बोली, 'घर में आटा-दाल को पैसे नहीं हैं, ये लाट साहब की तरह आकर लग गये पूछने, "क्या बात है ?"'

मैंने डरते-डरते कहा, 'अभी उस दिन तो रुपए दिये थे—वे क्या हुए ?'

ऐसी जगह सीधी बात का सीधा जवाब नहीं मिलता। वह और भी तेज़ होकर बोली, तुम तो चाहते हो, मैं डायन बनकर रहूँ; हाथ में एक-एक चूड़ी भी न हो! उस दिन आठ आने की चूड़ियाँ ले लीं;—उसका भी हिसाब देना होगा कि क्या हुई! वैसे ही क्यों नहीं कहते डूब मरूँ ?'

जी में तो आया कह दूँ जा, डूब मर; पर जी की बात जी में रख लेना मर्दों का काम ही है। मैं कुछ नहीं बोला। पर इससे वह शान्त नहीं हुई। बोली, 'टुकुर-टुकुर देखते क्या हो ?' कुछ खाने की सलाह है कि नहीं ?'

मैंने कहा, 'मेरी जेब में शायद डेढ़ पैसा है—चाहो तो ले लो।'

वह आँखें छोटी करके मेरी ओर देखने लगी। फिर बोली, 'अरुण बाबू ने जो दो रुपये दिये थे, वे क्या हुए ?'

अब मैं समझा, मामला क्या है। पर एकाएक कोई बहाना न सूझा। फिर मैंने हिचकिचाकर कहा, 'हेड वार्डर ने उधार माँगे थे, मैं इन्कार नहीं कर सका।'

उसने कुछ जवाब नहीं दिया, पर साफ़ मालूम होता था कि उसे विश्वास नहीं हुआ।

ख़ैर; मैं पानी का लोटा लेकर बाहर मुँह-हाथ धोने गया। वापस आकर देखा, मेरे कोट की तलाशी हो चुकी है, और वह हाथ में एक काग़ज़ का टुकड़ा लिये खड़ी है।

मैं उस पर कम ही ग़ुस्सा करता हूँ, पर इतनी बेइतबारी मैं नहीं सहार सका। मैंने पूछा, 'यह क्या कर रही हो, तुम ?'

औरत की जात अजीब होती है, ग़लती अपनी और ग़ुस्सा दूसरों पर! बोली, 'क्यों जी, यह क्या है ?'

मैंने काग़ज़ उसके हाथ से छीनकर पढ़ा—वह चिट्ठी थी।

'सुषमा !'

दो दिन के मौन के बाद जब मैंने तुम्हें गाते सुना, तभी मैंने जान लिया था कि निर्णय हो गया है...आज पक्का पता मिल गया...

जिस अवस्था में तुम हो, उसमें मैं तुम्हें क्या लिखूँ ? क्या सान्त्वना दूँ ? हाँ, एक बार तुम्हें देखने का प्रयत्न करूँगा—शायद सफल होऊँ।

याद आता है, बहुत दिन हुए, एक बार तुमसे होड़ की थी कि किसका काम पहले समाप्त होगा। उस समय मुझे पूरी आशा थी कि मेरी जीत होगी। आज मैं सोच रहा हूँ, कौन जीतेगा ?—अरुण'

पढ़ तो मैं गया, फिर मुझे शर्म आई—और उस पर ग़ुस्सा। पर मैं चिट्ठी लेकर बाहर चला गया—वह न-जाने क्या बड़बड़ाती रही।

शामको मैं भूखा ही ड्यूटी से कुछ पहिले अन्दर चला गया। अभी लैम्पें नहीं जली थीं, पर सूरज डूब गया था। मैंने कोठियों के दो चक्कर लगाये, फिर जल्दी से उसकी कोठरी पर जाकर काग़ज़ दे दिया। उसने लेते ही कहा, 'जवाब ले जाना।' मैंने कहा, 'लिखो।' और हट गया। कोठियों के फिर तीन-चार चक्कर लगाये और आ गया। उसने एक काग़ज़ मेरे हाथ में दिया और बोली, 'ज़बानी भी कह देना, होड़ के दो दिन बाक़ी हैं।' मैंने कहा, 'अच्छा, नमस्कार !' उसने कुछ अचरज से, पर हँसकर जवाब दिया, 'नमस्कार।' मैं लपककर अपनी ड्यूटी पर चला।

पर काम नहीं बना। कोठियों के वार्डर ने पूछा, 'कौन है ?' मैं घबरा गया। वह चिट्ठी मेरे हाथ में थी—मैंने जल्दी से मुँह में डाल ली। उसने फिर पूछा, 'कौन है ?' मैंने कहा, 'मैं हूँ, मंगतराम वार्डर। यों ही ज़रा घूमने आ गया था—अब ड्यूटी पर जा रहा हूँ।'

'अच्छा, मैंने समझा, कोई क़ैदी है।'

मैंने ड्यूटी पर पहुँचकर ही साँस लिया। मैं वहीं बैठा रहा। जब खूब रात हो गई, तब अरुण बाबू ने बुलाया, 'मँगतू !' मैं अन्दर चला गया।

उसने पूछा, 'कहो, क्या हुआ ?' मैंने कहा, 'पहुँचा तो आया।' उसने खुश होकर कहा, 'अच्छा।'

मैं वहीं खड़ा रहा, गया नहीं। उसने पूछा,'कुछ और बात है क्या ?'

मैंने कहा, 'हाँ।'

'क्या ?'

'जो जवाब लाया था—'

'जवाब भी ले आये क्या ?'

'सुनो तो। जो जवाब लाया था वह—'

'उसका क्या हुआ ?'

'जब मैं आने लगा तब वार्डर ने देखकर शोर मचा दिया।'

'फिर ?'

'फिर मैं वह काग़ज़ खा गया।'

वह एक फीकी-सी हँसी हँसा। फिर बोला, 'मैं तुम्हें कितनी बार ख़तरे में डाल चुका हूँ, मँगतू !'

मैंने कहा, 'यह कोई बात नहीं है, अरुण बाबू। हाँ, एक ज़बानी सन्देशा है।'

'क्या ?'

'कहने को कहा था कि अभी होड़ के दो दिन बाक़ी हैं।'

'अच्छा, जाओ।'

सोमवार को साहब आये, तो उनकी और अरुण बाबू की बहुत देर तक अंग्रेजी में बातें हुईं। मैं समझा तो कुछ नहीं, हाँ, मालूम होता था कि अरुण बाबू कुछ समझा रहा था और साहब पहले तो आनाकानी करता रहा, फिर अचम्भे में आया; फिर बोला, 'आलराइट !' और डिप्टी को अंग्रेज़ी में कुछ समझाकर चला गया।

जब वे चले गये तो मैंने पूछा, 'क्या बात हुई ?'

वह बोला , 'फाँसी देखने की इजाज़त मिल गई।,

रात को कुछ बादल घिर आये। बरसाती नहीं, वैसे ही छोटे-छोटे सफ़ेद टुकड़े...मैं घर में गया और चुपचाप चारपाई पर लेट गया। देवी का कोप अभी ख़त्म नहीं हुआ था। मुझे इस तरह उदास मुख लेटा देख शायद वह कुछ पिघल गई। पर रुखाई से बोली, 'क्या है ?' मैंने जवाब दिया, 'कल सुषमा को—'आगे नहीं बोल सका। वह चौंककर

बोली, 'हैं?' फिर मेरे पास आकर बैठ गई। बहुत देर तक हम चुप बैठ रहे। मैंने देखा, वह चुपचाप रो रही थी! शायद मेरे भी आँसू आ गये थे।...

मुझे रात-भर नींद नहीं आई। सुबह पाँच बजे, तो मैं वर्दी पहिनकर अन्दर चला गया। थोड़ी देर में साहब, मजिस्ट्रेट, डिप्टी, और चीफ़ वार्डर वग़ैरह आ गये और चुपचाप कोठियों की ओर चले। मैं पीछे-पीछे चला। उनकी कोठी पर पहुँचे तो वह उठकर बैठी हुई धीरे-धीरे कुछ गा रही थी। साहब ने पूछा, 'कुछ वसीयतनामा लिखाओगी?' वह ज़ोर से हँसी और बोली, 'मेरे पास सिर्फ़ दो ही रिवाल्वर थे, जो सरकार ने ज़ब्त कर लिये। अब वसीयत के लिए कुछ नहीं है।'

कोठी खुली, वह बाहर चली आई। चीफ़ वार्डर ने उसके पीठ के पीछे बाँध दिये। वह बराबर हँसती जा रही थी!

डिप्टी ने इशारे से मुझे बुलाया। बोला, 'उस पोलिटिकल को ले-आओ—हथकड़ी लगाकर लाना। समझे?'

मैंने सलाम किया और चाभी और हथकड़ी लेकर उधर चल पड़ा। दूर से मुझे फिर उसके गाने की अवाज़ आई—

दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे?'

मैंने अपनी जगह पहुँचकर कहा—'अरुण बाबू! जल्दी चलो।'

वह दरवाज़े के आगे खड़ा आकाश की ओर देख रहा था। मैंने दरवाज़ा खोला तो बाहर आ गया। मैंने कहा, 'बाबू, हथकड़ी लगाने का हुक्म हुआ है।' उसने चुपचाप दोनों हाथ बढ़ा दिये।

हम जल्दी-जल्दी फाँसी-घर की ओर चले। वहाँ पहुँचकर देखा, सब लोग एक कोने में खड़े हैं और सुषमा तख्ते पर खड़ी है। हम भी एक कोने में खड़े हो गये। सुषमा ने अरुण को देखा, उसके मुँह पर से ज़रा-सी देर के लिए मुस्कराहट चली गई—बिजली की तरह दोनों की आँखों ने कुछ कहा, फिर सुषमा पहले की तरह मुस्कराकर धीरे-धीरे गुन-गुनाने लगी—

'दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे?'

अरुण का शरीर तन गया, उसने मुट्ठियाँ बड़ी ज़ोर से बन्द कर लीं। फिर न बोला, न हिला—पत्थर की तरह खड़ा रहा।

जल्लाद सुषमा के मुँह पर टोपी पहिनाने लगा। वह बोली, 'यह क्या है? मैं मुँह छिपाकर मरने नहीं आई हूँ।'

जल्लाद साहब की ओर देखने लगा। साहब ने इशारे से कहा, 'मत लगाओ।'

जल्लाद ने रस्सी उठाकर गले में लगा दी, और अलग हटकर खड़ा हो गया।

सुषमा ने अरुण की ओर देखकर मुँह खोला, मानो कुछ कहने को हो, फिर रुक गई और मुस्करा दी।

जल्लाद ने साहब की ओर देखा। साहब ने धीरे से एक उँगली उठाकर फिर नीचे झुका दी...

धड़ाक्!

तख्ता हट गया, रस्सी तन गई...

साहब वग़ैरह जल्दी से वहाँ से हट गये, मानो शर्म से भाग गये हों...

अरुण घुटने टेककर बैठ गया...आँखें बन्द कर लीं...मैं चुपचाप हथकड़ी पकड़े खड़ा रहा...

आठ-दस मिनट बाद वह उठा और सीढ़ियाँ उतारकर गड्ढे के अन्दर चला गया...

जल्लाद ने सुषमा का शरीर उतारकर नीचे लिटा दिया था; हाथ खोल दिये थे। उसके अंग नीले होने लगे थे, पर अभी अकड़े नहीं थे...

अरुण झुककर बहुत देर तक उसके मुँह की ओर देखता रहा। फिर बहुत धीमी, काँपती आवाज़ में बोला, 'शारदा, तुम्हारी जीत हुई...'

इसी वक्त डाक्टर आया। अरुण को देखकर कुछ झेंप-सा गया, फिर चुपके से सुषमा की नब्ज़ देखने लगा। सिर हिलाकर बोला, 'हूँ। इनको दफ्तर में ले जाओ—पब्लिक लेने आई है।' यह कहकर चला गया।

अरुण भी मानो सपने में ही खड़ा हो गया। बोला—'शारदा, तुम तो डूब गई थीं, अब तुम्हारी छाया ही को लेने आई है पब्लिक!'

उसने हाथ उठाकर एक अँगड़ाई-सी ली, फिर मानो सपने से जाग पड़ा...उसका चेहरा देखते-देखते बदल गया...आँखें बुझ-सी गईं...

भर्राई हुई आवाज़ में वह बोला, 'पब्लिक!'

उस एक ही लफ्ज़ को सुनकर मैं काँप गया...उसमें उसके जी की सारी कचट—कई सालों की दबी हुई जलन—भरी हुई थी...

वह फिर बोला, 'पब्लिक!'

फिर एक बड़ी डरावनी हँसी हँसा...और बोला, 'चलो।'

मैंने ले जाकर उसे कोठरी में बन्द कर दिया...

इसके बाद मुझे उससे बोलने में कुछ डर-सा लगने लगा। मैं अपनी जगह बैठकर ड्यूटी देता और चला जाता...

एक हफ़्ते बाद एक दिन सबेरे ही चीफ़ वार्डर आया और उससे बोला, 'डिप्टी साहब का हुक्म है कि आपको कारख़ाने में काम पर जाना होगा।'

'काम पर जाये डिप्टी' और भाड़ में जाओ तुम! मैं कोई काम-वाम नहीं करूँगा।'

चीफ़ वार्डर चला गया। थोड़ी देर में डिप्टी आया और दरवाज़ा खुलाकर अन्दर गया। बोला, 'काम पर क्यों नहीं जाते?'

'मेरी मर्ज़ी। मैं कुली नहीं हूँ।'

'तुम क़ैदी हो, क़ैदी! कोई बड़े लाट नहीं हो! उस दिन के बेंत भूल गये?'

'नहीं, अच्छी तरह याद हैं। आपको भी बहुत दिन नहीं भूलेगी!'

'मैं तुम्हारी सारी अकड़ निकाल दूँगा!

'क्या कर लेंगे? बेंत लगवायेंगे? वह मैं खा चुका हूँ...बेड़ियाँ लगवायेंगे? वे भी छः महीने पहनी हैं...फाँसी दे लीजिएगा? वह मैं देख आया हूँ—उसमें बड़ा मज़ा है...बड़ा!'

डिप्टी ने उसका टिकट उठाया और उस पर कुछ लिखकर चला गया...

मैंने ताला बन्द करते हुए पूछा, 'अरुण बाबू, यह क्या है?'

उसने हँसकर कहा, 'कुछ नहीं; माफ़ी बन्द और जब तक काम न करूँ कोठीबन्द!'

उस दिन से वह कोठी से बाहर नहीं निकला। कभी-कभी जब मैं उसे समझाता तो वह हँसकर कहता, 'मँगतू, अब तो यहीं कटेगी। काम करने की तो मैंने कसम खा ली!

अब मैं उससे कुछ-कुछ डरने लगा हूँ। जिस अरुण को मैं पहले जानता था—उसमें और इसमें कितना फ़र्क़ है। मैं उसकी कोठरी से कुछ दूर ही बैठता हूँ और ड्यूटी पूरी करके चला जाता हूँ...कभी-कभी उसे देख भर लेता हूँ...

वह कभी-कभी गाता है। जब मैं उसे उस कोठरी के अँधेरे में बैठे धीरे गाते सुनता हूँ...

भूला, भूला रहता, मैं भी समझा लेती मन को—
क्यों बिखराया फिर तूने आ गरीबिनी के धन को ?

तब मेरे दिल में एक धक्का-सा लगता है, मैं सोचने लग जाता हूँ, कितनी कमीनी यह नौकरी है जिसमें मैं फँसा हुआ हूँ...और कैसे अजीब आदमी हैं ये पोलिटिकल क़ैदी...

पर सबसे तरसानेवाली उसकी वह घड़ी होती है जब बड़े सबेरे पौ फटने के वक्त वह आकर अपनी कोठरी के दरवाज़े के सीख़चे पकड़कर बैठ जाता है और भूरे आकाश में फटे हुए दूध की तरह छोटे-छोटे सफ़ेद बादल के टुकड़ों की ओर देखता हुआ गाने लगता है—

आसन तलेर माटिर पड़ि लूटिए रोबो,
तोमार चरण धूलाय धूल धूसर होबो ?

उस वक्त उसकी आवाज़ में ऐसी दबी हुई-सी आग होती है कि मेरा कलेजा दहक उठता है ! मैं वहाँ से उठकर दूर जा बैठता हूँ कि वह आवाज़ मेरे कानों तक न पहुँचे...

पर उसके शब्दों से, उन गानों से, उस डरावनी हँसी से, उस टिकटी से, उस फाँसी के नज़ारे से और उस अजीब औरत की हँसती आँखों से हटकर जाने की जगह नहीं...शारदा की छाया को तो पब्लिक ने फूँक दिया, पर यह सुषमा की छाया, जो हर वक्त मेरे पास रहती है, इससे छुटकारा कहाँ है ?...

द्रोही

वह बुद्धिमान् था या मूर्ख, दुर्बल था या हठी, साहसी था या कायर, हम नहीं कहते। क्योंकि जिसे एक कायर कहता है, दूसरा दुर्बल, उसी को तीसरा बुद्धिमान् कह देता है; जिसे एक मूर्ख या हठी कहता है, वही किसी अन्य के यहाँ साहसी वीर कहकर सराहा जाता है।

हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह द्रोही था, सिर से पैर तक द्रोही था। इसके अतिरिक्त उसके, उसके कर्मों को, उसकी मनोगति के विषय में जो कुछ उसने स्वयं अपने हाथों लिखा था, उसीका संकलन करके हम पाठकों के सामने रख देते हैं, उसे देखकर वे जो निष्कर्ष निकालना चाहें निकालें, जिस परिणाम पर पहुँचना चाहें, पहुँचें। जिस परिणाम पर हम पहुँचे हैं, वह पाठकों को मान्य होगा या नहीं, यह हम नहीं जानते; इसलिये अपनी सम्मति से हमें उन्हें बाधित नहीं करेंगे।

१

कैसा घोर परिवर्त्तन है यह! अभी उस दिन हम उस पर्वत-श्रेणी पर भटक रहे थे, चारों ओर मीलों तक हिमाच्छादित पर्वत-शिखर दीख पड़ते थे, इधर-उधर जाने में कोई रोक-टोक नहीं थी...स्वेच्छाचारिता के लिए कितना विशद क्षेत्र था वह! आज भी, प्रातःकाल को, कितना स्वच्छन्द होकर मैं यमुना के तट पर बाइसिकल लिये चला जा रहा था, कोई रोक नहीं थी, कोई यह नहीं कह सकता था कि इधर मत जाओ...अब? इस छोटी-सी अँधेरी कोठरी में चारपाई के साथ हथकड़ी लगाये पड़ा हूँ! इतनी भी स्वतन्त्रता नहीं है कि लेटे हुए से उठकर बैठ जाऊँ!

लोग कहते हैं, आत्मा निराकार है, उसे कोई बाँध नहीं सकता। पर जब शरीर बँध जाता है, तो क्यों आत्मा मानो आकाश से गिरकर भूमि पर आ जाती है? क्यों उसे इतनी व्यथा होती है?

आदमी का घर जब जलता है, तब उसे दुःख होता है; क्योंकि आग की तपन को आदमी अनुभव कर सकता है। पर आदमी तो साकार है, आत्मा की तरह तो नहीं है?

कैसी वीभत्स है यह कोठरी! सामने दरवाज़ा है—उसमें सीख़चे लगे हुए हैं—कारागार! उसके आगे दालान है, पर उसके किवाड़ ऐसी जगह हैं कि मैं देख न पाऊँ—बन्धन! कोठरी के ऊपर छोटा-सा रोशनदान है, पर वह भी ढाँप दिया गया है कि मैं आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा भी न देख पाऊँ! कैसा विकट बन्धन है यह, जिसमें शरीर, दृष्टि और आत्मा, तीनों ही बँधे हुए हैं!

कोठरी की दीवारों पर सफ़ेदी तक नहीं की गई। अलग-अलग ईंटें साफ़ दीखते हैं, और उनके बीच में से मिट्टी गिर रही है...फ़र्श भी गीला है और उसमें से सड़ने की बू आ रही है। छत में खड़खड़ का शब्द कहीं हो रहा है—शायद चूहे कूद रहे हैं और यह, मृत्यु की छाया की तरह काले चमगादर मेरे सिर पर मँड़रा रहे हैं, इनके परों के फड़फड़ाने की आवाज़ तक नहीं आती! किसी भावी अनिष्ट की प्रतिच्छाया की तरह, किसी घोरतम पतन के पूर्व शकुन की तरह, प्रशान्त, भैरव, निश्शब्द होकर ये वृत्ताकार घूम रहे हैं, और वह वृत्त धीरे-धीरे छोटा होता जाता है...

आँखें बन्द करके सोचता हूँ, भविष्य के क्रोड़ में क्या है, जो मुझसे छिपा हुआ है? बहुत सोचता हूँ, पर एक प्रशस्त अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। विचार करने लगता हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है, तो कितनी सम्भावनाएँ आगे आ जाती हैं...इतने कष्ट में पड़ने का क्या लाभ होगा? वह महान् व्रत धारण किया था, वर्षों जेल में क्यों सड़ता रहूँ? उस दिन एक प्रतिज्ञा की थी...पुलिस सब कुछ तो पहिले से जानती है, अगर मैं अपने मुँह से कह दूँ तो क्या हर्ज है? 'बन्धुओं की रक्षा के लिए मृत्यु के मुख में भी—' माफ़ी मिल सकती है, उसे क्यों छोड़ूँ? संसार में सबसे पतित व्यक्ति वह है जो डरकर कर्तव्य-विमुख...' हमारे संघ में अनेक अयोग्य व्यक्ति हैं, उन्हें बचाने के लिये मैं क्यों आग में पड़ूँ? विश्वास की रक्षा कितनी बड़ी निष्ठा है।...अगर मैं निकलकर संघ का नये और उन्नतर आदर्श पर निर्माण कर सकूँ, तो क्यों एक मरीचिका के लिए जेल जाऊँ? 'यह वह संग्राम है जिसमें एक चूक भी अक्षम्य होती है, इसमें वे ही हाथ बँटा सकते हैं जो सर्वथा अकलंक हों...'

उफ़? जब स्वतंत्र था तब तो कभी कर्तव्य-पथ अदृश्य नहीं हुआ था! यहाँ आकर क्यों मेरी अन्तर्ज्योति बुझ गई है? भविष्य, अगर तुम्हारा हृदय चीरकर उसके भीतर देख सकूँ! क्या करूँ? क्या करूँ? क्या करूँ?...

मैं आँखें बन्द किये पड़ा हूँ, फिर भी उन चमगादड़ों की रव-हीन उड़ान की अनुभूति मेरे हृदय में एक अजीब ग्लानि-मिश्रित-भय-सा उत्पन्न कर रही है...वह वृत्त ज्यों-ज्यों छोटा होता जाता है, मेरी अशान्ति बढ़ती जाती है।...

पर जिस विकल्प में मैं पड़ा हूँ, वह हटता जाता है...मुझे जो प्रगति की सम्भावनाएँ दीखती थीं, उनकी संख्या कम होती जाती है।...

ज्यों-ज्यों उन चमगादड़ों की उड़ान का मण्डल छोटा होता जाता है, त्यों-त्यों मेरी मनोगति का मार्ग भी संकीर्णतर होता जाता है...एक ही कामना मेरे हृदय में पुकारती है, एक ही संकीर्ण पथ मेरी आँखों के आगे है, एक ही ज्वलन्त प्रश्न मेरे मन में नाच रहा है...वह कामना उत्तम है या अधम, वह पथ उन्नतिशील है या अवनति की ओर जाता है, इसकी विवेचना करने की शक्ति मुझमें नहीं है...वह प्रश्न और उसका उत्तर इतने प्रज्वलित, इतने दीप्तिमान् हैं कि उनके आगे निष्ठा, कर्त्तव्य, प्रतिज्ञा, व्रत, बन्धु, संघ, आदर्श, कुछ नहीं दीखता !

कमला ! कमला ! तुम्हें कैसे पाऊँगा ?...

निष्ठा क्या है, जिसका हम पालन करें ? कर्तव्य क्या है, जिसके लिए हम कष्ट झेलें ? प्रतिज्ञा क्या है, जिसे हम निभायें ? पर यह सब उस अखण्ड निष्ठा, उस प्रकीर्ण कर्त्तव्य, उसे उग्र प्रतिज्ञा के आगे क्या हैं ? उस व्रत के आगे जिसमें माता-पिता, बन्धु-बान्धव, घर-बार, प्रतिष्ठा, कलंक, सब भूल जाने पड़ते हैं ? उस आदर्श के आगे जिसका अनुसरण करनेवाला पतित होकर भी दिव्य पुरुष होता है ?

जानती हो, कमला ! वह क्या है ?

प्रेम !

लोग कहते हैं, जब तक विकल्प रहता है तब तक अशान्ति रहती है; जब आदमी किसी ध्रुव पर पहुँच जाता है तब उसे शान्ति मिल जाती है। फिर क्यों मेरे मन में स्मृतियाँ उठकर मुझे तंग करती हैं, क्यों भूले हुए चेहरे मेरे आगे आकर हँसते हैं और मुझे कोसते हैं ?

मैंने निर्णय कर लिया है, सब कुछ भूलकर एक व्रत निभाऊँगा, उसके लिए जो कुछ होगा, सह लूँगा...व्रत का अनुष्ठान पूरा करने में आनन्द होना चाहिए था, फिर क्यों मेरे हृदय के अन्दर-ही-अन्दर यह आग-सी सुलग रही है ?

एक स्मृति आती है...एक व्यक्ति कठघरे में खड़ा है, सामने सुल्तानी

गवाह बयान देने को खड़ा है। जज, वकील, दर्शक सब निस्तब्ध बैठे हैं—वह व्यक्ति गम्भीर स्वर में कुछ कह रहा है...

'लोग कहते हैं, हमें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं है। आप कहते हैं, हमने षड्यन्त्र किये हैं, बग़ावत फैलाई है, राज के कर्मचारियों को मारने का प्रयत्न किया है, इसलिये हम दोषी हैं।

'आपने जो अभियोग मुझ पर लगाया है, उसकी मुझे पर्वाह नहीं है। मैं उसके विषय में अपनी सफ़ाई भी नहीं दूँगा। क्यों? क्योंकि मैं जानता हूँ, यह न्यायालय नहीं है। यह रंगभूमि है, और नाटक का अन्त क्या होगा, यह मैं और आप अच्छी तरह जानते हैं; क्योंकि हम दोनों ही इस अभिनय के पात्र हैं। दर्शकों के मन में शायद कुछ कुतूहल हो—मेरे मन में नहीं है।

'परन्तु उस दूसरे आक्षेप का, जो लोगों ने हम पर किया है, उत्तर देना मेरा कर्त्तव्य है।

'अगर मैं एक दिन के लिए, एक घण्टे-भर के लिए, कालिदास, या रवि ठाकुर, या मारकेल एंजेलो, या शेषन्ना हो सकता, तो मुझे जितना आनन्द, जितना अभिमान होता, उतना एक समूचे राष्ट्र का विधाता होकर भी नहीं हो सकता। परन्तु उस जीवन का, उस जीवन के सौ वर्षों का, मैं देश की सेवा में बिताये हुए एक क्षण के लिए प्रसन्नता से उत्सर्ग कर दूँगा; क्योंकि मुझे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है। मैं जानता हूँ कि एक दासताबद्ध देश को कवियों और कलाकारों की अपेक्षा योद्धाओं की अधिक आवश्यकता है...'

मैं आँखों के आगे हाथ रख लेता हूँ...पर वह व्यक्ति मेरी ओर देखकर कहता है, 'क्यों रघुनाथ, तुम तो बहुत बातें बनाते थे...'

हट जाओ! मेरे आगे से हट जाओ! क्यों तुम मुझे जलाने आ रहे हो? मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगा, नहीं सुनूँगा, नहीं सुनूँगा!

एक स्त्री...उसका मुख परिचित है...सुधा! केश बिखरे हुए हैं, मैला आँचल सिर पर से गिरा हुआ है...कितनी निर्भीक खड़ी है वह!

'मुझ पर जो अभियोग लगाया गया है, उसमें दोषी ठहराये जाने में ही गौरव है...जो ग़ुलाम होकर भी उस दोष के दोषी नहीं हैं, वे कायर, नपुंसक, नीच हैं...'

फिर,—'रघुनाथ, तुम यह जानकर भी पतित हो गये...'

उफ् ! ये स्मृतियाँ !...

मैं निर्णय कर चुका हूँ। अब नहीं बदलूँगा। मैंने व्रत धारण किया है, उसे निभाऊँगा।

कितनी आत्मभर्त्सना, कितने व्याघात सहने पड़ रहे हैं मुझे...पर मैं दृढ़ रहूँगा...

तुम तो मेरी सहायता करोगी न, तुम तो मुझे नहीं कोसोगी ?

कमला ! कमला ! केवल तुम्हें पाने के लिए मैं यह सब कर रहा हूँ...

मैंने बयान दिया है, बहुत बढ़ा-बढ़ाकर बातें कहीं हैं। अच्छा किया है।

वे मुझसे पूछते, 'फिर तुम्हारे साथियों ने अमुक काम किया। ठीक है न ?'

उन्होंने किया था या नहीं, इससे मुझे क्या ? मेरी बातों से उनकी कितनी हानि होगी, इससे मुझे क्या ? वे उदारहृदय नहीं हैं। नहीं तो रात को, जब मैं सोने लगता हूँ तब वे क्यों आकर मुझे सताते हैं ? अब मैं उस अँधेरी कोठरी में नहीं हूँ, एक बहुत अच्छे कमरे में बिजली के प्रकाश में पलँग पर सोता हूँ; फिर भी उनकी स्मृतियाँ चैन नहीं लेने देतीं...वे मुझे तड़पाती रहें और मैं प्रतिशोध न करूँ ? क्यों ? मैं आदमी हूँ, कोई भेड़-बकरी नहीं हूँ ! मैं प्रतिशोध करूँगा, भीषण प्रतिशोध ! जितनी घड़ियाँ मैंने छटपटाते हुए काटी हैं, उन्हें भूलूँगा नहीं !

मैं उत्तर दे देता, 'हाँ, ठीक है। उन्होंने किया।'

मैंने जो कुछ किया, उचित किया। अगर इसके लिए रातें जागकर काटनी पड़ें, तो काटूँगा।

ये स्मृतियाँ कब तक रहेंगी ? जब यहाँ से छूटकर तुम्हें पा जाऊँगा, क्या तब भी ये मुझे सतायेंगी, कमला ?

कितना धीरे-धीरे चलता है समय !

इतने दिन हो गये, मैं अपना बयान समाप्त कर चुका, पर जिरह अभी चल रही है। कैसे मर्म्मभेदी प्रश्न होते हैं वे !

'तुम जब बनारस आये, तो कहाँ ठहरे ?'

'बाबू कामताप्रसाद के घर में।'

'बाबू कामताप्रसाद उस समय घर में थे ?'

'नहीं।'

'कौन था ?'

'उनका लड़का।'

'और ?'

'मुझे—याद नहीं है।'

'याद कर लो, कोई जल्दी नहीं है। उनकी लड़की भी वहाँ थी ?'

'शायद।'

'उसका नाम क्या है ?'

'मैं नहीं जानता।'

'उसका नाम कमला है, ठीक है न ? सोचकर बताओ।'

कोई उत्तर नहीं। क्यों वे बार-बार चक्कर काटकर उसी बात पर आते हैं ? क्या अभिप्राय है उनका ?

'उस बाग़ में तुम्हें कौन-कौन मिलने आया ?'

'मैं बतला चुका हूँ।'

'उनके सिवा और कोई नहीं आया ?'

'नहीं।'

'कमला ?'

'नहीं।'

'याद कर लो ?'

'कह चुका हूँ, नहीं।'

'अच्छा, खैर, जाने दो !'

समझ नहीं आता, क्यों वे बार-बार इसी एक बात पर चक्कर काटते हैं...न-जाने क्या अभिप्राय है ! क्या चाहते हैं वे मुझसे कहलाना ? किस वास्ते ?'

यह कहलाकर कि मैं कमला से प्रेम करता हूँ, क्या वे उसे मुझसे अलग करना चाहते हैं ?

अगर चाहते हैं तो उसकी इस आशा को फलीभूत न होने देना, कमला !

हमने सीखा था, किसी विशाल आदर्श के लिए झूठ बोला जाय तो उसमें कोई हानि नहीं है; इसके विपरीत वह सर्वथा सराहनीय है। तब क्यों लोग मुझे कुत्ते से भी बुरा समझते हैं ? जब मैं अदालत में जाता हूँ, तब सब दर्शक मेरी ओर कैसे देखते हैं...कैसी ग्लानि, कितना तिरस्कार, कितनी उपेक्षा उनकी दृष्टि में होती है...और उसके साथ ही एक घृणा-मिश्रित कुतूहल, जैसा सड़क के किनारे पड़े मरे हुए कुत्ते को देखकर

होता है ! जी में आता है, उन सब दर्शकों की इतनी आँखें न होकर एक ही आँख होती, और मैं उसमें एक तपी हुई सलाख घुसेड़ देता !

कितना आह्लाद-जनक होता उनका पीड़ा से छटपटाना, कितना शान्ति-प्रद ! पर यह आशा कितनी असम्भव है !

होने दो। वे मुझसे घृणा करते हैं, करें। मेरा तिरस्कार करते हैं, करें ! वे हैं क्या ? मुझे क्या परवाह है उनकी ?

पर यह, यह क्या है ? मैं अपनी आँखों में भी पतित, अनादृत, तिरस्कृत होता जाता हूँ...

क्यों ? क्यों ?

संसार मुझ पर हँसता है, मैं संसार पर हँसूँगा। वह मेरी उपेक्षा करता है, मैं उसकी उपेक्षा करूँगा। इतनी महती शक्ति मुझे आश्रय दे रही है, मेरी रक्षा कर रही है, फिर मुझे किस बात का डर ? मैं कापुरुष नहीं हूँ, विश्वासघातक नहीं हूँ। जिस शक्ति ने मुझे शरण दी है, उसके प्रति मेरा जो प्रण है, उसे पूर्ण करूँगा।

उनका अधिकार क्या है कि मेरा तिरस्कार करें ? मैंने कोई पाप नहीं किया है। मेरा अपराध क्या है ? यही कि मैंने प्रेम किया है ? प्रेम पुण्य है, धर्म है, अपराध नहीं है। अगर वे प्रेम नहीं करते, तो उन्हें चाहिए कि चुल्लू-भर पानी में डूब मरें। मुझ पर हँसने का उन्हें क्या अधिकार है ? उन्हें प्रेम की अनुमति नहीं हुई, उन्होंने प्रेम का तत्त्व नहीं समझा, तो वे मूर्ख हैं; मैं उनकी बात की परवाह करके मूर्ख क्यों बनूँगा ?

मैं अकेला हूँ, अकेले ही इतना बड़ा काम करने का बीड़ा उठाया है। इतने बड़े षड्यन्त्र का, जिसकी शाखें देश के न-जाने किस कोने तक फैली हुई हैं, मैं अकेला ही स्पष्टीकरण करने लगा हूँ। मैं अकेला हूँ तो क्या हुआ ? एक विराट् सुसंगठित शक्ति इस काम में मेरी सहायता कर रही है और करेगी ? फिर मैं कैसे हारूँगा, कैसे वे मुझे सता पायेंगे ?

—पर।

जब से मैं बन्दी हुआ हूँ, मेरा आत्म-संयम टूट-सा गया है। मैं क्षण-भर भी अपने मनोवेग को थाम नहीं सकता ! बे-लगाम के घोड़े की तरह वह मुझे जिधर चाहता है, लेकर भाग जाता है। और मैं डरकर उससे चिपटकर बैठा रहता हूँ कि कहीं गिर न पड़ूँ। उसे रोकने का प्रयत्न करने के लिए मेरे हाथों को अवकाश ही नहीं मिलता।

मैं द्रोही हूँ ? कौन कहता है ?

मैंने एक बार, एक अस्थायी जोश में आकर, राजद्रोह करने का और करवाने का बीड़ा उठाया था। पर वह तो यौवन की एक उमंग थी, हृदय का एक उद्‌गार था। उमंग आई और चली गई, उद्‌गार उठा और मिट गया। उस बात के लिए क्या मैं सदा के लिए द्रोही हो जाऊँगा ? और फिर मैं उसका समुचित प्रायश्चित्त भी तो कर रहा हूँ। जो आग मैंने सुलगाई थी, क्या उसे बुझाने में मैं सरकार की भरसक सहायता नहीं कर रहा हूँ ?

देशद्रोह !

नहीं, यह देशद्रोह नहीं है। जो बीज मैंने बोया था, उससे अगर पौधा अच्छा नहीं लगा, तो क्यों न मैं उसकी जड़ काटूँ, क्यों न उसे उन्मूल उखाड़ फेंकूँ और नये वृक्ष के लिए स्थान बनाऊँ ?

नया वृक्ष बोने के लिए मैं अयोग्य हो गया हूँ। पर क्या इस डर से मैं वह सड़ा हुआ पौधा न उखाड़ता ? वह होता देशद्रोह ! मैंने जो किया है, ठीक किया है; देश की सच्ची सेवा की है। मैं नया पौधा नहीं लगा पाऊँगा, न सही। पर औरों के प्रयत्न के लिए स्थान तो बना जाऊँगा।

फिर उस दिन जब वकील ने पूछा, 'तुम द्रोही हो कि नहीं ?' तब किसने मेरे कान में कहा, 'नीच ! कायर ! एक बार तो सच बोल !' ? किस अज्ञात किन्तु अदम्य प्रेरणा ने मेरे मुँह से कहला दिया, 'हाँ, मैं द्रोही हूँ, और अगर कोई मुझे प्राणदण्ड देगा, तो मैं उसे उचित दण्ड समझूँगा ?'

कुछ नहीं। वह क्षणिक भावुकता थी, एक अस्थायी उन्माद था।

पर अगर अस्थायी था, तो क्यों वह हर समय मेरे पीछे लगा रहता है ? क्यों जब रात को सिपाही आवाज़ देते हैं, तब मैं नींद से चौंक उठता हूँ, मानो किसी ने पुकारा हो, 'द्रोही !' क्यों, जब पवन चलता है तब मुझे उसकी सरसर ध्वनि में सुन पड़ता है, 'द्रोही !' क्यों, जब वृक्षों के पत्ते खड़खड़ाते हैं, तो मेरे मन में भावना कहती है, 'द्रोही !' क्यों, जब पक्षी रव करते हैं, तो मुझे मालूम होता है कि वे तिरस्कार-पूर्वक चिल्ला रहे हैं, 'द्रोही ! द्रोही ! द्रोही !'

एक विराट् शक्ति मेरी रक्षा कर रही है, मुझे प्रसन्न रखने की चेष्टा में अपनी पूरी सामर्थ्य लगा रही है। पर यह, यह अचला, उद्‌भ्रान्ता,

रहस्यमयी प्रकृति कितनी महती शक्ति होगी, जो एक ही अपूर्व-निर्दिष्ट, उपेक्षापूर्ण हँसी में उसकी सारी शान धूल में मिला देती है !

कितना विचित्र तुमुल है यह जिसके बीच में मैं खड़ा हूँ, कमला !

द्रोही। क्यों ?

दुनिया की मेरे प्रति जो भावनाएँ हैं, उनकी मैं उपेक्षा करता हूँ, क्या इसी से मैं द्रोही हो गया ? अपने कर्मों के फल की मैं चिन्ता नहीं करता, क्या यह द्रोह है ? एक बड़े आदर्श के लिए मैंने एक छोटे आदर्श को छोड़ दिया, क्या यह द्रोह है ?

हमारे देश में पैंतीस करोड़ आदमी हैं। अगर वे सब मिलकर थोड़ा-थोड़ा भी काम करें, तो देश की बहुत सेवा हो सकती है; फिर क्यों वे हमसे आशा करते हैं कि हम तो सारी उमर जेलों में काटें और वे निखट्टुओं की तरह घर बैठकर गुलछर्रे उड़ायें ?

देशभक्त ? नहीं, हमें देशभक्त कहलाने का चाव नहीं है। देशभक्ति उन्हीं को मुबारक हो जो पिकेटिंग करके दो महीने जेल में काट आते हैं और फिर आयु-भर उसकी याद में इठलाते फिरते हैं—'अजी, जेल को क्या पूछते हो। हमने जो देखा सो हमीं जानते हैं !'

मुझमें यह पाखण्ड, यह झूठा दम्भ नहीं है। मैंने प्रेम के आदर्श के लिए इस देशभक्ति के आदर्श को छोड़ दिया है, इस बात को मैं मानता हूँ। पर क्या यह द्रोह है ?

हमारे देश में कितने ही क़िस्से प्रचलित हैं, जिनमें प्रेम का महत्त्व दिखाया गया है। विदेश में भी जो लोग घर-बार, राज-पाट, सब छोड़कर प्रेम का अभिसरण करते हैं, उन्हें आदर्श गिना जाता है। जनरल बूलेन्जर जब फ्रांस के मन्त्रित्व को ठुकराकर एक ऐक्ट्रेस के प्रेम के लिए इंग्लैण्ड चले गये, तब किसने उन्हें द्रोही कहा ? यूनान के प्रिंस कैरोल ने एक नर्त्तकी के प्रेम में पड़कर देश से निर्वासित होना भी स्वीकार किया, तब किसने उन्हें द्रोही कहा ? वे तो चरित्रहीन स्त्रियों से प्रेम करके भी देश के लाड़ले बने रहे, और मैं—!

वे बड़े आदमी थे, देश के विधाता बन सकते थे; और मैं एक छोटा-सा अप्रसिद्ध व्यक्ति हूँ, क्या इसीलिए उनका प्रेम क्षम्य है और मेरा अक्षम्य ? भारत का समाज कितना क्षुद्रहृदय है ? क़िस्से-कहानियों में, बातों में, तो कहते हैं, प्रेम बड़ा भारी आदर्श है, इसके आगे सब कुछ तुच्छ है ?

पर जब वास्तव में कोई बात सामने आती है, तब कितनी जल्दी पंचायत बिठाकर बिरादरी से बाहर करने की सूझती है, कितनी कठोरता से नैतिक स्वातन्त्र्य का दमन किया जाता है!

पर प्रेम प्रेम तभी है जब उसके पथ में काँटे हों, उपेक्षा हो, तिरस्कार हो, और हो भयंकर विद्वेष!

> अति खीन मृनाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है,
> सुई बेह ते द्वारस की न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है,
> कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है,
> यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवार की धार पै धावनो है!

कमला, जब तक तुम उस पथ के ध्रुवस्वरूप खड़ी हो, मैं समाज की उपेक्षा करके उस 'तरवार की धार' पर चलने को तैयार हूँ!

× × ×

मनुष्य जब पतन की ओर अग्रसर होता है तो कितनी जल्दी, कितनी दूर पहुँच जाता है!

मैं तो पतित हुआ ही था, साथ ही दूसरों को घसीटने का प्रयत्न करते भी मुझे शर्म न आई।

उस दिन जब पुलिसवाले मेरे पास आये और बोले—'रघुनाथ, हमने उस विमलकान्त की खूब ख़बर ली है, पर वह कुछ बताता ही नहीं। तुम्हीं कुछ उपाय बताओ।' तब किस तत्परता से मैंने कहा था, 'मुझे उसके पास ले चलो, मैं ठीक कर लूँगा।'

वे मुझे उसके पास ले गये। मैंने देखा, वह चारपाई पर बैठा हुआ था, दोनों हाथों में पीठ के पीछे हथकड़ियाँ लगी थीं, पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं। कपड़े मैले, फटे हुए,—बहुत दिनों से क्षौर नहीं किया था। बाँहों पर रस्सी के निशान पड़े थे, सिर पर पट्टी बँधी हुई थी। आँखें आरक्त हो रही थीं, मानो बहुत देर से सोने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ हो...

वह मुझे जानता था, पर मुझे देखकर चौंका नहीं। चुपचाप मेरी ओर देखता रहा, मानो मुझे पहचानता ही न हो।

मैंने पूछा, 'विमल! तुम तो बहुत कष्ट में हो?'

वह बोला, 'आपका परिचय क्या है? मैं तो आपको जानता ही नहीं!'

मैंने बात पलटकर कहा, 'देखो, विमल, इसमें कोई फ़ायदा नहीं है।

क्यों अपने को और अपने घरवालों को व्यर्थ दुःख देते हो ? सच सच बात क्यों नहीं कह देते ? पुलिस तो सब कुछ जानती है, तुम्हें छोड़ तो देगी नहीं। फिर क्यों नहीं उनकी बात मानकर उसका फ़ायदा उठाते ?'

वह चुपचाप सुन गया, एक शब्द भी नहीं बोला। मैंने समझा, मेरी बात असर कर गई। मैंने फिर कहा, 'बयान दे दो, मैंने स्वयं दे दिया है।'

क्षण-भर उसने इसका भी उत्तर नहीं दिया। फिर एक ही शब्द बोला—एक ही !

निर्लज्ज !

मैं जल्दी से उठकर बाहर निकल गया। पुलिसवाले बहुत रोकते रहे, पर मैंने अपने ही कमरे में आकर दम लिया।

निर्लज्ज !

कितनी मेहनत से मैंने एक कवच बनाया था, पर उसके एक ही शब्द ने उसे छिन्न कर दिया।

उसमें शान्ति है, धैर्य्य है, स्थिरता है। मैं चञ्चल हूँ, ओछा हूँ।

वह नवविवाहित था, फिर भी उसका मुख मलिन नहीं होता, फिर भी इतना अत्याचार सहकर वह हँसता है—फिर भी विचलित नहीं होता ?

उसने क्या प्रेम का तत्त्व नहीं जाना ? उसे क्या अपनी स्त्री में प्रेम नहीं है ? वह क्या हृदयहीन है ?

फिर क्यों उसे वह शान्ति इतनी सुलभ है, जो मैं पा नहीं सकता ? क्यों प्रेम का विचार उसे दृढ़तर बनाता है ?

क्या मैं ही नीच हूँ ? क्या मैं ही अपने-आपको भुलाये हुए हूँ ? क्या मेरा ही प्रेम मिथ्या है, कुत्सित है, गर्हित है ? क्या मेरे ही हृदय में दुर्वासना प्रेम का अभिनय कर रही है ?

कमला, कितनी भयङ्कर कल्पना है यह !

× × ×

नीच ! कायर ! लम्पट ! नीच !

कितनी घोर आत्मप्रवञ्चना है, कितना पाखण्ड ! कितना निष्फल दम्भ !

मैंने जो घोर नारकीय कुकर्म किया है, उसे छिपाने के लिए मैं कितनी रेत की दीवारें खड़ी करता हूँ...किसके लिए ? किससे मैं अपनी नीचता को छिपाना चाहता हूँ ?

संसार से ? वह पहले ही सब कुछ जानता है ! अदालत से ? अभी

उस दिन जज ने स्वयं कहा था कि मैं द्रोही हूँ ! इन पहरा देनेवाले सिपाहियों से ? ये मेरी ओर दया की (या ग्लानि की) दृष्टि से देखते हैं, और उन अभियुक्तों की मेरे सामने ही प्रशंसा करते हैं। यहाँ का भंगी तक तो मेरे कमरे को 'सुल्तानी का कमरा' कहता है !

अपने-आप से ? अन्दर जो आत्म-ग्लानि की आग धधक रही है, उसके प्रकाश में कुछ नहीं छिप सकता।

कमला से ?

कमला...

उस अन्तर्दीप्ति का प्रज्वलन मेरे कानों में कह रहा है—पाखण्डी ! प्रेम का ढोंग करनेवाले ! यह प्रेम नहीं है ! यह है वासना, काम-पिपासा, इन्द्रिय-लिप्सा !

कमला, कितना पतित हूँ मैं ! कितना स्वार्थी, द्वेषी, नृशंस, अधम ! स्वार्थ, द्वेष, और दम्भ के धुएँ से मेरा हृदय काला पड़ गया है। वह पुरानी अरुणिमा उसके एक कोने में भी नहीं रही। कमला, दुर्वासनाओं से झुलसकर यह हृदय इतना विद्रूप होगया है, इतना अन्धकारमय कि इसमें तुम्हारे योग्य स्थान नहीं रहा !

कैसी प्रतारणा है ! जिस आशा ने मुझे इस विश्वासघात, इस द्रोह के लिए बाध्य किया, वही मुझे छोड़कर चली गई ? एक स्वप्न की आशा में इतनी नीचता की थी (उसे नीचता नहीं तो क्या कहूँ ?), वह स्वप्न टूट गया—धोबी के कुत्ते की तरह मुझे कहीं का न छोड़कर।

मैं पतन के गहरे गड्ढे में गिर गया हूँ; पर कमला, तुम्हारी स्मृति मुझे क्षणभर के लिए आकाश में पहुँचा देती है।

केवल क्षणभर के लिए ! उसके बाद...

उफ़ ! कमला !

× × ×

लोग कहते हैं, बच्चा भगवान् का अवतार होता है।

जाने भगवान् हैं भी या नहीं, लेकिन बच्चे में कोई दिव्य शक्ति अवश्य होती है।

नहीं तो बच्चे के सीधे से प्रश्न में मुझे शाप की कठोरता का अनुभव क्यों हुआ ?

मैं अपना बयान दे रहा था। जलपान के समय में थोड़ी ही देर थी'

मैं सोच रहा था, जल्दी समय पूरा हो और मैं इस प्रखर वाण-वर्षा से छुटकारा पाऊँ!

उसी समय कुछ स्त्रियाँ आकर दर्शक-श्रेणी में बैठ गईं। उनके साथ दो-तीन बच्चे भी थे। मैं उनकी ओर देखने लगा। शायद किसी की अस्पष्ट प्रतीक्षा मेरे मन में छिपी थी!

वह उनमें नहीं थी। मैंने आँखें उधर से हटा लीं; पर कान नहीं हटे। एक छोटे-से लड़के के तीव्र स्वर ने पूछा, 'माँ, वह कौन खड़ा है?'

किसी स्त्री-कण्ठ से निकली हुई कम्पित ध्वनि ने उत्तर दिया, 'यही है वायदामाफ़ गवाह।'

'वही जिसने भइया को और उन सबको फँसाया है?'

मैं सवाल का जवाब देना भूल गया। वही बच्चे का प्रश्न एक भयङ्कर शाप की तरह मेरे कानों में गूँजने लगा। 'वही, जिसने भइया को और उन सब को फँसाया है! वही। वही, वही, वही?'

मैंने चाहा कि पूछूँ, 'कौन है तेरा भइया? मैंने उसे नहीं फँसाया'। पर मेरा सिर ही ऊपर नहीं उठा।

अदालत उठ गई। अभियुक्त नारे लगाने लगे। मैं जल्दी से बाहर निकल गया। उस समय मेरे हाथ कितने काँप रहे थे!

मेरे कानों में घूम-घूमकर वही ध्वनि गूँज रही थी, 'वही, वही, वही!'

अबोध बालक! मुझे शाप न दे! मैंने किसीको नहीं फँसाया। वे सब अपने कर्म्मों से फँस गये थे—मैं भी तो फँसा हुआ हूँ।

और जिस जंजाल में मैं फँसा हूँ, उसे कौन सुलझायेगा?

जलपान का समय पूरा हो गया, पर मेरी फिर अदालत में जाने की हिम्मत नहीं हुई। मैंने कहला भेजा कि बीमार हूँ, अदालत स्थगित हो गई।

× × ×

'वही, वही, वही!'

मेरे व्रत का क्या यही पुरस्कार है? भविष्य में मेरा जो सत्कार होगा, क्या यही उसका पूर्वाभास है?

वही, वही, वही!

कितना कठोर अभिशाप है!

झूठा कौन है? नीच कौन है? कायर कौन है? बन्धुद्वेषी कौन है? स्वार्थी कौन है? कृतघ्न कौन है? द्रोही कौन है?

एक छोटे-से बच्चे की उँगली सङ्केत से कहती है—

वही, वही, वही !

यह क्या है ? अनुताप ?

ये उन्माद के लक्षण हैं !

मैं पागल हो रहा हूँ, कमला, पागल ! पागल ! पागल !

× × ×

दबाऊँगा इसको, कुचल डालूँगा इस उन्माद के वेग को !

मनोवृत्तियाँ मुझे पागल बना रही हैं, इन्हें पीस डालूँगा।

मन का संयम करूँगा। अब तक मन मुझे लेकर स्वच्छन्द फिरता था, अब मैं उसे बाँधकर ले जाऊँगा।

पर—!

मन को बाँध लूँगा, पर इन कुवासनाओं को कैसे बाँधूँगा ? और इन्होंने पतन के जिस गहरे गह्वर में मुझे ढकेल दिया है, उससे कैसे निकल पाऊँगा ?

एक छोटी-सी भूल के लिए कहाँ तक पहुँचना पड़ता है। पर क्या एक बार पतित होकर उठने का कोई उपाय नहीं है ? क्या दुर्वासनाओं का दमन ही नहीं हो सकता ? क्या इस नीच कर्म का कोई प्रतीकार नहीं है, कोई प्रायश्चित्त नहीं है ?

प्रायश्चित्त.....प्रायश्चित्त......

एक मनोविकार के लिए, एक क्षणिक तृप्ति-लालसा के लिए, मैंने कितनी उत्फुल्ल जीवनियों का खण्डन कर दिया; कितने परिवारों की शिखर-मणियाँ तोड़ डालीं ! इसका क्या समुचित प्रायश्चित्त है ? अपना जीवन देकर भी तो मैं कुछ नहीं कर सकता।

प्रतीकार...प्रतीकार...

क्या करूँ ? अब तो सब कुछ कर चुका, अब मेरे हाथ में क्या रह गया है ?

बयान !

बयान वापस ले सकता हूँ।

पर उससे क्या होगा ? और भी तो द्रोही हैं, मेरे बयान वापस लेने पर भी वे रह जायँगे...और सबूत—हमारे अतिरिक्त भी तो कितने ही गवाह हैं, और सबूत भी तो बहुत हैं...एक मेरे बदल जाने से क्या होगा ? जिन जीवनियों का खण्डन कर चुका, वे तो खण्डित ही रह जायँगी, जो

मणियाँ नष्ट हो गईं, वे तो नष्ट ही रहेंगी ; जो घर उजड़ गये, वे तो उजड़े ही रह जायँगे ; जिन अभागिनियों के सौभाग्य-सूर्य्य अस्त हो गये, उनके भाग्य तो फिर जागेंगे नहीं...और मुझे ? मुझे अलग दण्ड मिलेगा। तब उस सब उत्पात का क्या फल होगा ? जिस स्वातन्त्र्य को मैंने इतने दामों पर मोल लिया है, वह भी छिन जायगा और प्रतीकार भी नहीं होगा...एक क्षणिक भावुकता में पड़कर बुलबुल की तरह मेरी चिरसञ्चित आशाएँ फूट जायँगी और मैं देखता रह जाऊँगा !...

और तुम्हें कमला, तुम्हें भी नहीं पा सकूँगा !...

× × ×

जब संसार की सृष्टि भी नहीं हुई थी, तब भी अनन्त आकाश में महामाया का राज था। आज विद्या इतनी फैल गई है, सद्बुद्धि का प्रचार हो रहा है, फिर भी मोह पीछा नहीं छोड़ता...

मैं निश्चय कर लेता हूँ, वासना का दमन करूँगा, मन को विशुद्ध करूँगा, दुष्कर्म्मों का प्रायश्चित्त करूँगा, फिर एक छाया, एक छाया की छाया उस नाम की स्मृति, मेरे सारे निश्चयों को बिखेर देती है ! यह है संयम, जिसका मुझे इतना अभिमान था !

मेरा प्रायश्चित्त विफल होगा, मेरा किया हुआ प्रतीकार विडम्बना होगी। पर क्या इसी लिए मैं दूसरी बार कर्त्तव्य-च्युत हो जाऊँ ?

न सही प्रायश्चित्त, न सही प्रतीकार। अपनी पाप-वृत्ति के लिए अपने को दण्ड ही दूँगा।

दूसरों को मैं इतनी सजा दिला रहा हूँ, और वे उसे प्रसन्नता से झेल रहे हैं, फिर मैं ही क्या ऐसा हूँ जो दो-तीन साल जेल में नहीं काट सकूँगा ?

पर...पर और भी तो दण्ड मिलेगा...यह जो आजीवन मेरी सहायता करने का सरकार का वायदा था, वह नहीं रहेगा...जब जेल से बाहर आऊँगा, तब काम कैसे चलेगा ? उल्टे सरकार अधिक सतायेगी !...

नहीं। जब दण्ड देना है तो समुचित देना होगा, बाद में जो होगा, उसकी बात नहीं सोचनी होगी।

कमला, तुम स्त्री हो या आँधी ?

विवेक कहता है, 'दण्ड देना होगा।' हृदय रोता है, 'कमला !' विवेक कहता है, 'यह प्रेम नहीं है, मोह है।'

कमला, कमला, कमला! तुम्हें नहीं छोड़ सकूँगा...प्रेम न सही, आसक्ति सही; मोह, सही; वासना सही; पर कितनी सुखद आसक्ति, कितना मनोरम मोह, कितनी मीठी, कितनी सुरभित, कितनी प्रकाण्ड वासना है यह!

× × ×

२

स्वप्न......

कैसा भयानक था उसका रूप! बड़ी-बड़ी लाल आँखें, चौड़ी नाक, वाराह की तरह बाहर निकले हुए बड़े-बड़े दाँत, और इतना काला शरीर! मुझे देखकर वह ठठाकर हँसा। सारा आकाश उसके खुले हुए मुख में समा गया। जिधर देखता, उधर उसका खुला हुआ वीभत्स मुँह...

और उसके अन्दर—उसके अन्दर मैंने देखा—

बहुत-से स्त्री-पुरुषयुग्म आश्लेषण कर रहे थे...पर...पर मैंने यह भी देखा, उनको बहुत-से बड़े-बड़े साँप लिपट-लिपटकर बाँध रहे थे—और धीरे-धीरे अपना बन्धन कसते जाते थे...उन युगल मूर्तियों के मुख पर अनुराग की लालिमा, सौन्दर्य्य की आभा, तृप्ति-लालसा की स्मित, धीरे-धीरे मिटती जाती थी और उसके स्थान में—

क्रूर लोलुपता, भीषण ग्लानि और दारुण वेदना एक साथ ही अधिकार जमा रही थी...

वह हँसा—कितना घोर अट्टहास था वह! फिर बोला, 'ये भी करते थे ऐसा प्रेम! अब तुम आओगे, तुम!

वह मुख मेरी ओर अग्रसर होने लगा...

मैंने बड़े जोर से चीख़ मारी—

स्वप्न!

मेरे पास जो इन्स्पेक्टर सोया था, जाग पड़ा और बोला, 'क्या हुआ?, क्या हुआ?' मैंने लज्जित होकर कहा, 'कुछ नहीं!' और पड़ा रहा। वह फिर सो गया।

पर मैं...वह स्वप्न नहीं भुला सका...

मच्छर मेरे कानों में भिन्नाते, तो मुझे सुन पड़ता, 'तुम, तुम, तुम!' मैं उठकर बैठ गया, सारी रात जागते ही काटी!

कमला, क्या प्रेम की यही व्याख्या है ? अगर है तो कितना कुत्सित है यह !

× × ×

पारिजात के फूलों की तरह नींद अलभ्य हो गई है ! पर मैं, जिसका मन निकृष्ट विचारों से भरा हुआ है, क्यों पारिजात के फूलों की बात सोचता हूँ ?

रात को—रात की कितनी आँखें हैं ! वे सभी घूर-घूरकर मेरी ओर देखती हैं, मैं उनसे आँख नहीं मिला सकता ! पर जब आँखें बन्द कर लेता हूँ, तो उन बड़े-बड़े दन्तुर राक्षसों का समूह मुझे देखकर हँसता है।

कहते हैं, प्रकाश में डर नहीं लगता। पर मुझे प्रकाश में भी जाग्रत् स्वप्न दीखते हैं,—स्मृतियाँ आकर चित्रवत् मेरे आगे खड़ी हो जाती हैं...

दीवार की ओर देखता हूँ, तो दीवार परदे की तरह आँखों के आगे से हट जाती है...

कृष्णपक्ष की कोई रात है। पवन बिलकुल निश्चल है, कहीं एक पत्ता तक नहीं हिलता। पृथ्वी के उत्तप्त उच्छ्वासों की तरह वायुमण्डल गरम और वाष्पमय हो रहा है—

एक जंगल। बहुत घने, छोटे-छोटे पेड़ हैं, काँटे भी बिखरे हुए हैं। बीच में एक छोटा-सा खुला स्थान है, वहीं अँधेरे में दो व्यक्ति खड़े हैं। उनके बीच में एक शरीर जमीन पर पड़ा है—उसके दोनों हाथ नहीं हैं, मुँह का बहुता-सा अंश मानो झुलसकर काला पड़ गया है, और पेट...जहाँ पेट होना चाहिए, वहाँ रक्त का एक कुण्ड बन रहा है !

दोनों व्यक्ति उस शरीर पर झुके हुए हैं। एक शायद रो रहा है...

वह—वह शरीर प्राणहीन नहीं है, पर उसके मुँह से व्यथा के शब्द नहीं निकलते।

वह धीरे-धीरे गुनगुना रहा है...मैं जा रहा हूँ। तुम रोते क्यों हो ? मैं अपना काम पूरा नहीं कर सका। मेरे हाथ नहीं रहे। तुम क्यों अधीर होते हो ? जिस काम को मैं अधूरा छोड़ चला हूँ, उसे तुम पूरा करना...'

मुख पर एक क्षणिक वेदना की रेखा—फिर एक बहुत हल्की-सी हँसी...

'मेरे काम को भूलना मत !'

सिर से पैर तक एक कम्पन, सिर उठाने का एक क्षीण, विफल प्रयत्न...फिर शान्ति...

दोनों व्यक्ति एक दूसरे की ओर देखते हैं। एक कहता है—'चले गये...'

नहीं देखूँगा उस दीवार की ओर! वह इतनी निश्चल है, मेरा मन उसपर स्थिर नहीं रहता।

× × ×

लैम्प पर ये पतंगे मँड़रा रहे हैं। इनमें चांचल्य है, ये निर्जीव और निष्पन्द नहीं हैं।

पतंगे...ये कितने उन्मत्त होकर लैम्प से टकराते हैं, और उसकी दीप्ति में भस्म हो जाते हैं!

कितनी देर के लिए इस उन्माद का अनुभव उन्हें होता है? लैम्प को देखते ही वे अपने-आपको उत्सर्ग कर देते हैं!

यह है प्रेम! मैं भी हूँ प्रेमी, जो अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए इतने सुखी परिवारों को छिन्न-भिन्न कर रहा हूँ...

प्रेम? पर प्रेम में इतनी भीषणता तो नहीं होती, प्रेम अन्धा तो नहीं करता, उन्मत्त तो नहीं बनाता! प्रेम तो स्निग्ध, शीतल और शान्तिदायक होता है। यह ज्वाला, यह प्रमाद, यह अन्धा कर देनेवाली दीप्ति तो वासना में ही होती है!

क्यों कवियों ने इसकी प्रशंसा की है? क्यों वे प्रेम की उपमा अग्नि-शिखा से देते हैं और प्रेमी की पतंग से?

या यह मेरा ही भ्रम है? पतंगा अपने-आपको जला देता है, उसे शायद उसी में शान्ति मिलती हो। मैंने तो अपने-आपको उत्सर्ग नहीं किया; मैं तो अपनी तृप्ति के लिए दूसरों को ही जलाता रहा हूँ...जिसे मैं प्रेम कहता हूँ, वह तो आत्मरक्षा का, स्वार्थपरता का, नामान्तर था...

मैंने पहले-पहल ऐसी भूल की हो, यह बात नहीं है। मुझे याद आता है—

वह दुबला-पतला था, कुछ चिड़चिड़ा था, फिर भी सब लोग उसका आदर करते थे; क्योंकि वह चालाक था। उसका रंग पीला पड़ गया था, आँखें धँस गई थीं, पर उसकी बोल-चाल में कुछ ऐसी मादकता थी...

वह कृतघ्न था, भगोड़ा था। मैंने तो केवल प्रेम ही किया है,—एक

पवित्र मूर्त्ति से प्रेम—वह बहुधा गिर चुका था...

मैं उसे अब भी देख सकता हूँ। उसके शरीर में अब भी वही मादकता व्याप्त है, और वह मेरी ओर देखकर मुस्करा रहा है, इशारे से मुझे बुला रहा है...

क्या कहते हो तुम ?

'देखो, रघुनाथ, व्यर्थ की चिन्ता में क्यों पड़े हो ? ऐसे व्याख्या करने लगोगे, तो पागल हो जाओगे। मन तुम्हारा सच्चा मित्र है, उसकी प्रेरणा का तिरस्कार मत करो। प्रेम के आगे सब-कुछ तुच्छ है, इसी लिए मैंने भी तो बन्धुओं को और प्रतिज्ञाओं को भूलकर उसका अनुसरण किया था। मैं लज्जित नहीं हूँ, क्यों होऊँ ? तुम भी इन व्यर्थ की बातों को भूल जाओ और मेरे साथ आओ। यही जीवन है।

चुप रहो, तुम भगोड़े थे, कृतघ्न थे ! तुम अपने बन्धुओं को छोड़ गये !

और मैं तो भगोड़ा ही था, अपने साथियों को भूला ही था...मैंने उन्हें फँसाकर उनका सत्यानाश कर डाला। फिर भी मैं उसे भगोड़ा कहने का साहस करता हूँ—मैं कृतघ्न, कायर, अधम ! मैं, जिसके लिए उचित सम्बोधन किसी कोष में ही नहीं होगा...

× × ×

उसकी ओर देखूँगा, उस दीप्तिमान लैम्प की ओर ! क्या फिर भी ये स्मृतियाँ मुझे सतायेंगी ?

कैसी प्रशान्त ज्योति है ! मेरे मन के जो उद्‌गार उठकर मुझे हिला देते हैं, उनसे यह कम्पायमान भी नहीं होती !

इसकी दीप्ति शान्तिमयी है, स्थिर है; किन्तु इसमें भव्यता नहीं है, भैरवता नहीं है।

उसमें भी महाशान्ति थी, पर कितनी भव्य, कितनी भैरव थी वह दीप्ति !

वह चिता थी, पर श्मशान-भूमि में नहीं थी। एक महापुरुष की चिता थी, पर उसमें अगर-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य नहीं थे। वह थी जंगल में बीनी हुई छोटी-छोटी लकड़ियों की चिता, और उसके पास रोने को खड़े थे तीन युवक !

तीनों फ़ौजी ढंग से, एक क़तार में, सिर की टोपियाँ उतारे हुए, सावधान खड़े थे। उस प्रज्वलित चिता की लाल-लाल, काँपती हुई

ज्योति में मैंने देखा, उनके मुँह पर विषाद का भाव था, आँखों में एक विचित्र चमक; पर आँसू, रोना, कहीं नहीं था...

चिता धीरे-धीरे कुछ स्वर कर रही थी, मानो तृप्त होकर एक निःश्वास ले रही हो, और कोई ध्वनि कहीं नहीं हो रही थी...

एकाएक कहीं दूर पर घोड़ों की टाप का शब्द हुआ। वे तीनों चौंके... फिर जल्दी-जल्दी मिट्टी डालकर उन्होंने वह अधजली चिता बुझा दी!

रात्रि के धुँधले प्रकाश में उन्होंने चिता से वह शरीर उठाया और नदी के किनारे पर ले गये...एक-दो बार जोर से हिलाकर उन्होंने—

छप!

नदी के प्रवाह में वह कहीं लुप्त हो गई...

एक युवक धीरे से बोला—'इतना भी न कर पाये!'

कोई उत्तर नहीं मिला। तीनों अँधेरे में कहीं ओझल होगये...

वञ्चित चिता से दुर्गन्धिमय धुआँ फिर भी आकाश की ओर उठता रहा, मानो भूखी चिता ईश्वर के आगे पुकार करने को अपनी मूक वाणी भेज रही हो!

× × ×

चन्द्रमा। कितनी स्निग्ध है उसकी ज्योत्स्ना!

निर्निमेष होकर उसकी ओर देखता हूँ, मुझे कलंक कहीं नहीं दीखता। न कहीं पर्वत-तुङ्ग और गड्ढे ही दीख पड़ते हैं। दीखता है एक मन्द स्मित मानव-मुख।

वह मुस्कान है, या मेरी दशा पर तिरस्कारपूर्ण हँसी?

नहीं। उसमें तिरस्कार नहीं है, अनुकम्पा है, आश्वासन है! वह मानो मुझे कह रहा है, चंचल मत हो, घबरा मत।

उस दिन जब शशिकान्त हमें दिलासा दे रहे थे, तब भी उनके मुख-पर यही भाव था...

हम दुमंजिले के ऊपर बैठे हुए थे, नीचे पुलिस आ गई थी। दोनों ओर से गोलियाँ चल रही थीं—उधर से लगातार, हमारी ओर से कभी-कभी मौक़ा देखकर...

हमारी गोलियों का ढेर बड़ी शीघ्रता से छोटा होता जाता। मैं सोच रहा था, 'अभी पाँच मिनट बाद क्या होगा?'

उन्होंने मुख का भाव देख लिया। बोले, 'रघुनाथ, यही तो जीवन का

मज़ा है ! इतने दिन भागते फिरे, आज एकाध हाथ दिखा देंगे !'

उनकी वाणी में इतना विश्वास भरा हुआ था, मुझसे उत्तर देते नहीं बना। मैंने आँख बचाकर गोलियों के ढेर की ओर देखा।

उनसे वह भी नहीं छिप सका! बोले, 'वह क्या देखते हो ? हमारा बल उसमें नहीं है। हमें चाहिए धैर्य्य ! वह तो आपत्तिकाल के लिए एक निमित्त मात्र है—हमारी शक्ति है दिल में !'

मैं लज्जित होकर धीरे-धीरे—बहुत धीरे-धीरे ! अपने रिवाल्वर में गोलियाँ भरने लगा...

'दिल में !' मैंने अपने दिल की ओर ध्यान किया, वह बड़े ज़ोर से धड़क रहा था !

न-जाने कैसे, शशिकान्त को कुछ आभास-सा मिल गया। वे खिन्न होकर बोले, 'अभी समय है। मैं इन्हें यहाँ फँसाये रखता हूँ, तुम दोनों पिछली गली से निकल जाओ। अभी पुलिस उधर नहीं गई है।'

मेरे जी में आया, दौड़कर निकल जाऊँ। पर मेरा साथी हिला भी नहीं। मैं लज्जित होकर बैठ गया...कितना काँप रहा था मेरा शरीर !

उन्होंने फिर पूछा, 'जाते क्यों नहीं ?'

मेरा साथी बोला, 'दादा, तुम्हें अकेला छोड़कर हम नहीं जायँगे।'

वे एक क्षण चुप...फिर बोले, 'obey orders !'

आज्ञा !

हम दोनों ने अपने रिवाल्वर जेब में रखे और चुपचाप उठकर चल दिये। मैंने एक बार मुड़कर देखा, पर वे मानो हमें भूल गये थे—शान्त, कुछ मुस्कराते हुए, नीचे की ओर तीव्र दृष्टि से देख रहे थे, जैसे बाज झपटने से पहिले शिकार की ओर देखता है...

उसके बाद ?

....

× × ×

मेरा मन विकृत है। उन विकारों की प्रतिच्छाया मुझे प्रत्येक वस्तु में दीखती है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना तक में वही व्याप्त हो रही है !

इस तरह मैं अपनी विच्छिन्न मनःशक्ति को और भी निर्बल बना रहा हूँ ! किसी की ओर नहीं देखूँगा—कुछ सोचूँगा।

आज भूख नहीं लगी। खाना इतना अच्छा बनकर आया था, फिर

भी न-जाने क्यों, खाने की इच्छा ही नहीं हुई ?

भोजनभट्ट !

कितना नीच हूँ मैं—इतना विश्वासघात करके, इतनी नृशंसता के बाद, अब भी उसी शारीरिक तृप्ति की बात सोच रहा हूँ !

किसी दिन मैं कितना आदरणीय व्यक्ति समझा जाता था ! उन दिनों मैं संगठन का काम कर रहा था। कितने सरल, विश्वासी नवयुवक मेरे आगे श्रद्धाभाव से खड़े रहते; मेरी बात कितनी व्यग्रता से सुनते, मानो अमृत पी रहे हों ! उनमें अनभिज्ञता-जनित अन्धविश्वास था, अनुभव-हीनता के कारण वे दूसरों में भी सहसा विश्वास कर लेते थे ! पर कितना सुखद, कितना स्निग्ध, कितना कोमल होता था वह निःशङ्क विश्वास; कितना आह्लादजनक वह श्रद्धाभाव !

मैं, मैं उस विश्वास के, उस श्रद्धा के, कितना अयोग्य निकला ! जो मुझपर इतना विश्वास करते थे कि मेरे एक इंगित पर जान तक दे देते, उनका मैंने कैसा प्रत्युपकार किया !

× × ×

मैं जो आशा करता हूँ कि इन स्मृतियों से छुटकारा पाऊँगा, यह व्यर्थ की आशा है। मैं जो काम कर रहा हूँ, उसकी प्रतिक्रिया मेरे मन पर होती रहेगी, उसे मैं कैसे रोक सकता हूँ ?

पर कब तक यह प्रतिक्रिया होती रहेगी ? जब मैं अपनी गवाही देकर अलग हो जाऊँगा, जब मैं जेल से निकल जाऊँगा, क्या तब भी यमदूत की तरह ये स्मृतियाँ मेरा पीछा करती रहेंगी ?

पब्लिक की स्मरण-शक्ति बहुत कमज़ोर है। वह अच्छा-बुरा सभी कुछ बहुत जल्दी भूल जाती है। नहीं तो यह कैसे सम्भव था कि इतने द्रोही अब तक जीवित रहते ? यह पब्लिक ! जिनकी यह पूजा करती है, उन्हें भी तो पाँच-सात वर्ष में भूल जाती है।

और द्रोहियों को ? उन्हें तो पब्लिक शायद वर्ष-भर भी नहीं याद रख पाती।

वे मुझे भूल जायँगे। मैं चुपचाप किसी छोटे-से गाँव में रहूँगा, पुलिस मेरी रक्षा करेगी, फिर दिन धीरे-धीरे बीत जायँगे...और शायद उस नये जीवन में मैं अकेला नहीं रहूँगा, शायद...

कमला ! अगर उस जीवन में तुम भी मेरे साथ होगी, तो कितना अकथनीय सुख होगा वह !

जब भी तुम्हें याद करता हूँ, मेरा यह अनिश्चय, यह अकारण आशंका, ये सब एकदम दूर हो जाते हैं; तुम्हारी ही मूर्त्ति से मेरा अन्तः-करण दीप्तिमान् हो जाता है। आँखें बन्द करके तुम्हारा ही ध्यान करूँगा—और उस ध्यान में कितनी शान्ति मिलेगी मुझे !

× × ×

मैं तुम्हें देख सकता हूँ। यह कम्पनीबाग के लताकुञ्ज का द्वार है, और इसके एक खम्भे पर हाथ रखे खड़ी हो—तुम ! हल्के नीले रङ्ग की साड़ी पहिने, सिर झुकाये, मूर्त्तिमान् प्रतीक्षा की तरह—तुम !

कमला, मुझे एक श्लोक याद आ रहा है...

त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं
त्वमसि मम भवजलधिरत्नम् ।
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी
तत्र मम हृदयमतियत्नम् !

मैं तुम्हारे मुख की ओर देख रहा हूँ।

यह क्या है ? तुम्हारा आँचल गीला क्यों है ? तुम्हारी मुखश्री मुरझाई क्यों है ? तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों हैं ? तुम्हारी दृष्टि इतनी विरक्त क्यों है ? और तुम्हारा साँस किस वेग से, कितना कम्पित, चल रहा है ! कमला, कमला, कमला ! तुमको क्या हो गया है ? तुम मेरी ओर देखती क्यों नहीं ? मुझे पहिचानती क्यों नहीं, मुझे देखकर प्रसन्न क्यों नहीं होती ?

कमला, मेरी ओर देखो, केवल एक बार ! उफ् ! तुम्हारी आँखों में व्यथा नहीं है—यह तो ज्वाला है !

किसने तुम्हारा अनादर किया है, कमला ? क्यों तुमने यह चण्डी का रूप धारण किया है ? मुझे बताओ, मैं प्रतिशोध करूँगा !

मैं......

मैंने......

कमला ! कमला ! कमला ! क्या कह रही हो तुम ? 'तुमने, तुमने, तुमने मुझे कलङ्कित कर दिया है !'

मैंने !

तुम पागल तो नहीं हो गई ? या परिहास तो नहीं कर रहीं ? पर नहीं, तुम्हारी आँखों में आँसू है, और बड़े यत्न से दबाये हुए क्रोध के आँसू !

मैंने तुम्हें कलङ्कित कर दिया है; मैंने जो कि सब निछावर करके तुम्हारी एकाग्र उपासना कर रहा हूँ ! मैंने, जो कि तुम्हारे आगे इतने नवयुवकों के जीवन को तुच्छ समझता हूँ !

कितना असह्य लाञ्छन लगा रही हो मुझ पर तुम, कमला !

× × ×

तुम ठीक कहती थीं, मैंने तुम्हें कलङ्कित कर दिया है। मैं तुमसे प्रेम करता था ? वह प्रेम ही वासना थी, कलुषित, कलङ्कित, कुत्सित ! तुमने मुझे मेरी भूल सुझा दी है।

कमला, मैं दोषी हूँ।

पहले मैंने राजद्रोह किया था, फिर अब देशद्रोह कर रहा था...पर तुमने, तुमने मुझे सुझा दिया कि मैंने मानवता भी खो दी ! अब मैं क्या हूँ ? इन चिंउटों की तरह, इन मच्छरों की तरह, जो भिन्नाते हैं, काटते हैं, पर जिनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है !

मैं बहुत गिर चुका हूँ, इतना कि शायद अब उठ नहीं सकूँगा ! पर कमला, एक काम अवश्य करूँगा, एक काम जिससे मैं इतना डरता था, एक काम जिससे मेरी सब एकत्रित उमंगें टूटकर बिखर जायँगी ! मेरे पास एक ही साधन रह गया है। प्रायश्चित्त का नहीं, प्रतीकार का नहीं, तुम्हारे मुख पर से वह घोर कलंक का टीका मिटाने का नहीं, तुम्हारे योग्य बनने का नहीं; केवल यह दिखा देने का कि मैं प्रायश्चित्त करना चाहता था, तुम्हारे मुख से वह कलंक मिटाकर तुम्हारे योग्य बनना—तुम्हारे योग्य बनने का प्रयत्न करना—चाहता था ! संसार शायद फिर भी मेरे नाम पर थूकता रहेगा, रहे। अब मैं उसका ध्यान नहीं करूँगा —केवल तुम्हारा, और तुम्हारे श्रीहीन मुख का !

मैं जीवन में निरुद्देश्य होकर बहुत गिर चुका हूँ, पर अब वह खोया हुआ उद्देश्य मुझे फिर मिल गया है।

कल—मैं मिटा दूँगा उस कलंक की स्मृति भी...

कल—वापस लूँगा बयान...

कमला, कमला, फिर तो मुझ नीच पर क्या करोगी ?

× × ×

३

मैं खड़ा था, उस गोल कमरे के बीच में। अभियुक्त, वकील और जज, सब अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। जिरह का आरम्भ होनेवाला ही था।

नित्य की तरह मेरे हृदय में कँपकँपी नहीं थी, मैं चौंक-चौंककर इधर-उधर नहीं देखता था...मेरे जीवन में निश्चय था, वह पहले की तरह उद्देश्यहीन नहीं रह गया था।

मेरे शरीर में बिजली दौड़ गई...एक जीवित स्वप्न आया और दर्शकों में बैठ गया—एक बहुत ही मधुर स्वप्न—कमला! मैंने मन-ही-मन कहा, 'कैसा अच्छा संयोग है यह! आज मैं उसका कलंक मिटाने आया था, आज स्वयं उपस्थित है। वह देखेगी!'

मैंने उसकी ओर फिर नहीं देखा। एक भावना मेरे कानों में कहने लगी, 'वह कलंकिनी है, तुमने उसे कलंकित कर दिया था। जब अपना काम कर चुकोगे, तब उधर देखना।'

वकील खड़ा हुआ। मेरा दृढ़ हृदय धक्-से हो गया, उसका स्पन्दन मुझे सुन पड़ने लगा। किस प्रश्न का क्या उत्तर दूँगा, कैसे दूँगा, कैसे वकील चौंककर उठेंगे और एक नये औत्सुक्य—एक नई उत्कण्ठा से मेरी ओर देखने लगेंगे...

एक अभियुक्त उठा और बोला, 'मेरा एक वक्तव्य है।'

जज बोला, 'लिखकर भेज दो।'

'नहीं, मैं जबानी कहूँगा?' कहकर वह पढ़ने लगा...

देर होती गई, और मेरे हृदय का स्पन्दन बढ़ता गया। दर्शकों की ओर—दर्शकों में बैठी उसकी ओर—देखने की व्यग्रता भी बढ़ती गई... इस दुबिधा में वह वक्तव्य भी ठीक नहीं सुन पाया...

'विदेशी सरकार ने हमारा जो उपकार किया है, हमने उसकी क़द्र नहीं की, इसी का उत्तर माँगने के लिए आपने हमें यहाँ बुलाया है। मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दूँगा। क्यों? क्योंकि इसका उत्तर हिन्दुस्तान की भूमि के रेणुमात्र पर लिखा हुआ है...

'आपने हिन्दुस्तान में शराब और अफ़ीम बेचकर हमारी बुद्धि भ्रष्ट की, आप विचित्र क़ानून बनाकर हिन्दुस्तान का सोना खींचकर विलायत ले गये, आपने हमारे श्रमजीवियों को इतना निर्धन किया कि आज एक-एक छोटी कोठरी में चार-चार परिवार, बीस-बीस प्राणी, आयु बिताने को बाध्य हुए,

आपने असहायों पर गोलियाँ चलायीं, दंगे करवाये, फिर आपको यह पूछते शर्म नहीं आती कि हम अकृतज्ञ क्यों हैं!...

'आप अन्याय पर तुले हुए हैं, फिर क्यों न्याय का ढोंग करके अपनी हँसी करवाते हैं ? जो दण्ड देना है, आज ही दे डालिये। क्यों व्यर्थ हमारी भूखी प्रजा का रुपया फूँकते हैं ? ..

'जिसकी गवाही पर आप हमें दण्ड देने चले हैं, उसने पहले सरकार से विश्वासघात किया, फिर देश से, और फिर सत्य की उपेक्षा करके न-जाने कितने झूठ बकता रहा।

'वह राज-द्रोही है, देश-द्रोही है, धर्म्म-द्रोही है। उसकी साक्षी पर हमें दण्ड देकर क्यों आप न्याय का मुँह काला करते हैं ?'...

इससे आगे मैं नहीं सुन सका—मुझे बस अपने हृदय की वह धक्! धक्! धक्! ही सुन पड़ने लगी...मेरे हाथ-पैर काँपने लगे...

किसी प्रेरणा ने कान में कहा, 'कमला की ओर देखो! वह तुम्हें शक्ति प्रदान करेगी!'

किस शैतान की प्रेरणा थी वह! मेरा निश्चय उसके आगे उड़ गया—मैंने देखा, तृषित, लालसामय आँखों से, उसकी ओर!

वह मेरी ओर नहीं देख रही थी। वह देख रही थी उस अभियुक्त की ओर, सुन रही थी उसका वक्तव्य। कितनी तल्लीन होकर! उसका प्रत्येक वाक्य सुनकर कैसे खिल उठती थी उसकी मुखश्री! उस खिलने में थी सन्तुष्टि, उसमें था आनन्द, उसमें था गर्व।

मैं मुग्ध होकर कितनी ही देर उधर देखता रहा...शायद उसे इसका भास हुआ, उसने मानो स्वप्न से जागकर मेरी ओर देखा। क्षण-भर के लिये, फिर आँखें फेर लीं।

क्या था उसकी आँखों से ? उपेक्षा, विरक्ति, अनुताप, लज्जा!...

वह शैतान एक विद्रूप हँसी हँसा मेरे कान में। मैंने सुना—'कौन है वह? कमला तुम्हारी क्या है, तुम कमला के कौन ?'

कमला! यह क्या देख रहा हूँ...

जब तुम उधर, उनकी ओर देखती हो, तब तुम्हारी आँखों में यह क्या हो जाता है ?

तुम्हें क्या हो गया कमला, तुम मुझे भूल गई...

× × × ×

मेरे जीवन का उद्देश्य...मेरा निश्चय...मेरा प्रण...कहाँ गये ?

मेरे लिए अन्धकार-ही-अन्धकार है।

कमला, मैं नीच था, पतित था, कायर था, द्रोही था, नरक के कीड़े की तरह था; पर तुम्हारे प्रति तो मेरे भाव नहीं बदले थे...तुम्हें तो समझना चाहिए था कि किस प्रेरणा ने मुझे इस पतन की ओर प्रेरित किया था—तुम्हें मैं क्या समझा था—तुम भी मुझे समय पर ठुकराकर चली गई...

मैं सबकी आँखों में गिरा हुआ था, पर तुम्हारी आँखों में तो न गिरने का मैंने पूरा प्रयत्न किया था...और तुम्हें भी तो मैंने इतने ऊँचे सिंहासन पर बिठाया था...इस उपेक्षा में दो आदर्श टूट गये—उस सिंहासन से तुम च्युत हो गई, और मैं न-जाने कहाँ तक गिरता ही जाऊँगा !

कमला, आज मैं सरकार की इतनी महती शक्ति का तिरस्कार करके तुम्हारे मुख पर से कलङ्क मिटाने आया था, पर तुमने मुख फेर लिया... मेरे हाथ कलुषित थे, पर अगर तुम्हारी आँखों में भी मैं इतना पतित हो गया हूँ, कमला, तो मेरे जीवन के सभी आधार टूट गये...

मैं पतित था, पर मुझे अपने पतन का ज्ञान तो था...मैं उठना चाहता था, पतन के गह्वर से निकलना चाहता था; तुम मेरी सहायता कर सकती थीं, पर तुमने उपेक्षा की, मेरा तिरस्कार किया, मेरी उस उच्च कामना को ठुकरा दिया...

× × ×

मुझे कठघरे में खड़े अभी पाँच मिनट भी नहीं हुए थे, कितने समुद्र-के-समुद्र मेरे आगे से बह गये...मुझे ऐसा मालूम हुआ, मेरे हृदय की धक् ! धक् ! से अन्तस्तल में कहीं बहुत-से बन्धन एक साथ टूट गये... मेरे नीचे से धरती खिसकने-सी लगी...

मैंने चाहा, चिल्लाऊँ, 'कमला, कमला, तुमने यह क्या किया !' पर जब बोला, तो वकील के प्रश्न का उत्तर ही मुँह पर आया !

वह प्रश्न पूछता गया, मैं उत्तर देता रहा...कोई चौंका नहीं, किसीको विस्मय नहीं हुआ, किसीको उत्कण्ठा नहीं हुई, किसीने उत्सुक होकर मेरी ओर नहीं देखा...

और कमला ! कमला उसी तरह, उसी खिली हुई मुखश्री से, उसी गर्व से, उनकी ओर देखती रही, मेरी ओर उसने भूलकर भी फिर नहीं देखा...

४

जो एक बार अपनी इच्छा से पतित होता है, उसका उत्थान होना असम्भव है। कोई उसका मित्र नहीं होता, कोई उसकी सहायता नहीं करता। मेरे लिए यही जीवन है—यही जिसे एक दिन मैंने इतनी व्यग्रता से अपनाया था, और जिसने आज साँप की तरह मुझे अपने पाश में बाँध लिया है।

मैं द्रोही हूँ, और रहूँगा।

द्रोह मेरे हृदय में है, मेरी अस्थियों में है, मेरी नस-नस में है। मैं द्रोही हूँ।

पहली बार मैंने सरकार से द्रोह किया था, किसी की मुखश्री से आकृष्ट होकर। दूसरी बार मैंने देश से द्रोह किया, किसीके शरीर की लालसा से। तीसरी बार मैंने धर्म्म से द्रोह किया, किसीके लिये ईर्ष्या करके।

फिर, अपनी नीचता का परिणाम जब मैं जान पाया, तब मैं प्रायश्चित्त करने गया। पर फल क्या हुआ ? प्रायश्चित्त भी नहीं किया और अपनी अन्तरात्मा के प्रति भी द्रोही बनकर लौट आया ?

मैं अपना बचाव नहीं करता। मैं अधम हूँ। पर मेरे जीवन के सारे आधार, मेरे उद्देश्य, मेरी आशाएँ, सदाकांक्षाएँ, सब कमला की उपेक्षा ने एक ही झोंके में मिटा दीं, और मेरे लिए उत्थान का कोई मार्ग नहीं छोड़ा!

अगर वह मेरी सहायता करती, तो कौन-सा ऐसा था जो मैं न कर पाता ? वह, जिसका मैंने इतनी एकाग्र-वृत्ति से ध्यान किया था, वह जो परीक्षा के समय मुझे ठुकराकर चली गई...कमला !

पर अब—! अब नहीं। मेरा भाग्य-निर्णय हो गया है, मेरा इस प्रवाह के विपरीत चलाने की स्पर्द्धा करना बेवकूफ़ी है। मैं कुछ नहीं करूँगा, बह जाऊँगा।

क्यों ? मैं द्रोही था, द्रोही हूँ और द्रोही ही रहूँगा।

विवेक से बढ़कर

Whence shall arise the shout of love, if it be not from the summit of sacrifice ?

आँधी तीन दिन से बन्द नहीं हुई थी। उस मरुस्थल से तीन दिन से पवन कभी क्रुद्ध साँप की तरह फुफकारता हुआ, कभी किसी प्रभीतपतिका की तरह सायँ-सायँ रोता हुआ बहा जा रहा था। उस मरु में उसका प्रवाह ऐसा अनवरुद्ध था कि तीन दिनों से लगातार पड़ रही बर्फ़ का एक टुकड़ा भी उसके आगे नहीं टिक पाया था। केवल उस लम्बी-सी नीची इमारत के कोने में, जहाँ पवन की चोट नहीं पहुँच पाती थी, बर्फ़ के मैले ढेर जम गये थे, और उनसे मैला पानी बहा जा रहा था...

काली-सी मरुभूमि, काला-सा आकाश, और बीच में उड़ती हुई बर्फ़ की चादर में लिपटी हुई वह काली-सी इमारत...भूमि और आकाश को देखकर उस स्थान की निर्जनता का अनुभव पूरी तरह नहीं हो सकता था, किन्तु उसके मध्य में, उस इमारत के भीतर से आनेवाले क्षीण प्रकाश को देखकर एकाएक असीम सूनेपन की संज्ञा जाग्रत हो उठती थी।

वह इमारत थी रूस की साइबेरियन सीमा का एक पुलिस-थाना। उस समय उसके अन्दर भी एक विचित्र तूफ़ान मचा हुआ था—किन्तु उसकी भयंकरता को वही समझ सकता है, जिसने महीनों आधे पेट भोजन पर बिताये हों, जिसने भूख, प्यास और सर्दी से अपने प्रियजनों को मरते देखा हो, जिसने धनिकों की अनाचारिता देखी हो, जिसने राजशक्ति की कोपदृष्टि सही हो, और जिसने यह सब कुछ देख-सुन और सहकर भी अपने पीड़ित बन्धुओं के लिए लड़ मरने का अपना निश्चय न छोड़ा हो...

थाने के एक सिरे पर एक कोठरी के अन्दर एक युवक बन्द था। वह चमड़े का एक कोट पहने हुए था, और मोटे-मोटे बूट, किन्तु उसके दाहिने पैर में एक लोहे की जञ्जीर पड़ी हुई थी, जिसका दूसरा छोर दरवाज़े के सीखचों से बँधा हुआ था। वह कोठरी के एक कोने में भूमि पर ही बैठा हुआ था और विमनस्क-सा होकर बाहर गरजते हुए तूफ़ान की ओर देख रहा था। कभी-कभी बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े अन्दर

आ जाते और कभी-कभी पवन के झोंके से छत से टँगे हुए चरबी के लैम्प की शिखा काँप जाती थी।

उसके सामने एक पुलिस का अफ़सर बैठा था। वह कुछ सोच रहा था, किन्तु फिर भी कभी-कभी चौंककर बाहर की ओर देख लेता, और कभी अपने बन्दी के मुख की ओर...

एकाएक वह बोला, 'देखो एन्टन, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बतलाता हूँ। तुम ज़रा आगे सरक आओ।'

बन्दी ने उपेक्षा से उत्तर दिया, 'रहस्य की बात यही होगी न कि मैं बयान दे दूँ तो मुझे छोड़ दोगे ?'

पुलिस-अफ़सर ने धैर्य से कहा, 'नहीं। तुम अभी युवा हो, इसलिए प्रत्येक सरकारी नौकर को देश-द्रोही ही समझते हो। तुम्हारा विचार ग़लत है।' यह कहकर वह स्वयं आगे सरक आया और बोला, 'एन्टन, तुम पीटर वासिलीव को जानते हो ?'

एन्टन ने कुछ मुस्कराकर कहा, 'इतना कच्चा नहीं हूँ !'

'तुम्हें ऐसे विश्वास नहीं होगा। सुनो, मैं तुम्हारी बहुत-सी बातें जानता हूँ। तुम पीटर वासिलीव के दल में थे, और तुम्हारे साथ ही मैक्सिम और लियोन भी थी। ठीक है न ?'

बन्दी ने फिर कोई उत्तर नहीं दिया।

'तुम, मैक्सिम और लियोन फिलिंकस्क नगर में गवर्नर की हत्या करने के लिए भेजे गये थे और तुम्हींने यह कार्य किया भी। उसके बाद तुम रूस की ओर वापस जाते हुए पकड़े गये। ठीक है न ?

फिर भी कोई उत्तर नहीं मिला।

'तुम समझते होगे, ये बातें शायद मैक्सिम या लियोन ने मुझे बता दी हों। सुनो, एक बात और कहता हूँ। यह उन दोनोंको नहीं मालूम है। वासिलीव ने एक बार पहले भी तुम्हें इधर भेजा था, और तुम क्रुप्स्कोव नाम से गये थे। क्यों ?'

अबकी बार एन्टन ने विस्मित स्वर से कहा, 'तो फिर क्या चाहते हो ?'

पुलिस-अफ़सर हँसा। बोला, 'अब शायद तुम मेरी बात सुनने को उद्यत होगे। सुनो। मैं वासिलीव का मित्र हूँ। मुझे तुमसे बहुत कुछ सहानुभूति है—पर इस बात को अभी जाने दो। मैं इस समय तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ। शायद थोड़ी-बहुत सहायता कर भी सकता हूँ।'

बन्दी ने उत्सुक होकर पूछा, 'क्या ?'

'तुम तीन आदमी पकड़े गये हो। मैं जानता हूँ कि उस हत्या में... तीनों का हाथ था। लेकिन फ़िल्किस्क के थाने में जो रिपोर्ट है, उसमें दो ही आक्रमणकारियों के देखे जाने की बात लिखी है।'

'तो फिर ?'

पुलिस-अफ़सर ने एक भेद-भरी दृष्टि से बन्दी की ओर देखते हुए फिर कहा, 'तुम लोग तीन हो।'

बन्दी क्षण-भर उसकी ओर देखता रहा। शायद पुलिस-अफ़सर का आशय कुछ-कुछ उसकी समझ में आ गया। उसने व्यग्रता दिखाते हुए पूछा, 'तो क्या किया जा सकता है ?'

'मैं तुमसे सहानुभूति रखता हूँ। अगर मेरा वश होता, तो मैं तुम तीनों को छोड़ देता। लेकिन वैसा करने से मैं स्वयं पकड़ा जाऊँगा और तुम भी कहीं नहीं जा सकोगे। ठीक है न ?'

'हाँ।'

'अपने आदर्श की पूर्त्ति के लिए जो बात सबसे लाभप्रद हो, वही हमें करनी चाहिए। तुम तीनों को नहीं छोड़ सकूँगा। इसलिए पूछता हूँ, तुममें से किसका मूल्य सबसे अधिक है ?'

एन्टन ने हँसकर कहा, 'हम तीनों ही पाँच-पाँच हज़ार रूबल के हैं!'

पुलिस-अफ़सर भी कुछ हँसा। फिर बोला, 'वह बात नहीं। किसका छूट जाना सबसे लाभप्रद होगा, यही जानना चाहता हूँ।'

'जानकर क्या होगा ?'

'उससे आगे जो कुछ करना होगा, वह मेरे वश में है। तुम केवल इतना बता दो, किसे निर्दोष लिख दूँ।'

एन्टन चुपचाप बाहर आँधी की ओर देखता रहा। कई क्षण बीत गये। पुलिस-अफ़सर ने कहा, 'मैं उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'

एन्टन मानो चौंका। फिर बोला, 'मुझे सोच लेने दो—यह काम बहुत कठिन है।'

पुलिस-अफ़सर ने कहा, 'अच्छा। मैं आधीरात बीते फिर आऊँगा। तब-तक—' यह कहकर वह घूमा और किवाड़ के पास जाकर बोला, 'सिपाही!'

दूर सिपाही के आने का ठप्! ठप्! स्वर सुन पड़ा। ताला खड़का, फिर दरवाज़ा कुछ खुल गया।

एन्टन ने अफ़सर से पूछा, 'आपका नाम क्या है, बताने की कृपा करेंगे ?'

'हाँ, हाँ ! मेरा नाम एंड्री मार्टिनोव है ।' कहकर वह बाहर चला गया। ताला बन्द हो गया ।

२

इस कोठरी में और एन्टन की कोठरी में कोई विशेष भेद नहीं था। अगर कोई भेद था तो इतना ही कि इस कोठरी का मुख पवन के वेग से बचा हुआ था । एक युवक उसमें धीरे-धीरे टहल रहा था । जब वह चलता तो उसके पैरों में पड़ी हुई जञ्जीर झनझना उठती थी, पर वह फिर भी ऐसे टहलता जाता था, मानो उसे ध्यान ही न हो ।

एकाएक उसने रुककर, अपने सामने खड़े हुए पुलिस-अफ़सर की ओर देखकर पूछा, 'पर मार्टिनोव साहब, आपका विश्वास कैसे किया जा सकता है ?'

मार्टिनोव ने कहा, 'मैं यह जानता ही था कि मैं आसानी से विश्वास नहीं दिला सकूँगा । लेकिन शायद मेरे पास इसका भी एक साधन है । तुम वासिलीव की हस्तलिपि पहचानते हो ?'

'कहिए ?'

'अगर मैं अपने नाम लिखा हुआ वासिलीव का पत्र तुम्हें दिखाऊँ, तो विश्वास करोगे ?'

'अगर-अगर की बात क्या करते हैं ? जो दिखाना है, दिखाइए; फिर बात होगी ।'

मार्टिनोव हँसा । फिर बोला, 'क्रान्तिकारी स्वभावतः ही टेढ़े होते हैं, सीधा जवाब क्यों देने लगे ? खैर, यह देखो ।' कहकर उसने जेब में से एक पत्र निकाला । उसमें दो ही तीन सतरें लिखी हुई थीं ।

मैक्सिम ने पत्र अपने हाथ में ले लिया और पढ़ा । 'बन्धु मार्टिनोव, हमारे एक मित्र क्रुस्कोव आपके प्रान्त में से होकर फिल्किरुक जा रहे हैं। आशा है, आप उनसे मिल पायेंगे । अगर न भी मिल सकें, तो ऐसा प्रबन्ध कर दीजिएगा कि उन्हें यात्रा में कष्ट न होने पावे । कृतज्ञ हूँगा ।'

मैक्सिम ने पत्र पढ़कर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से मार्टिनोव की ओर देखा । मार्टिनोव बोला, 'नीचे का नाम मैंने काट दिया था । लेकिन लिपि तो पहचानते हो न ?'

मैक्सिम ने धीरे से कहा, 'हाँ।'

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर मार्टिनोव बोला, 'तो अब मुझे बता सकोगे?'

'आपने और दोनों से भी पूछा है?'

'तुम्हें अपना मत व्यक्त करने में उनकी राय से नहीं बाध्य होना चाहिए, इसलिए यह मत पूछो। तुम किसे सबसे मूल्यवान् समझते हो, यही बता दो।'

मैक्सिम चुप रहा। मार्टिनोव मानो अपने-आपसे ही बोला, 'और फिर सबको विश्वास दिलाना भी तो असम्भव है!'

मैक्सिम ने कहा, 'हाँ, यह बात तो है। अच्छा।' 'तुम्हें शायद सोचने का समय चाहिए? मुझे कोई जल्दी नहीं है।'

'हाँ। कब तक समय दे सकते हैं?'

'आधीरात तक—अभी तीन घंटे हैं।' कहकर मार्टिनोव बाहर चला गया। मैक्सिम ने टहलना बन्द कर दिया और धीरे-धीरे भूमि पर बैठ गया। बहुत देर तक उस कोठरी में कोई शब्द नहीं हुआ, केवल किसी अशान्त, चिरदुःखित प्रेत के सिसकने की तरह पवन का वह सायँ-सायँ ही बार-बार गूँजता और कुछ शान्त होकर फिर गूँज उठता...

३

एन्टन की कोठरी में अँधेरा था, चर्बी का लैम्प बहुत धीमा जल रहा था। वह कोठरी में खड़ा हुआ दीख नहीं पड़ता था, इसलिए सिपाही दरवाज़े के पास ही खड़ा था, इधर-उधर घूमता नहीं था। कभी-कभी वह दरवाज़े पर आकर पुकारता, क़ैदी, सब ठीक है न?' और फिर बिना उत्तर पाये ही कुछ परे हटकर खड़ा हो जाता था। उसकी शिक्षा यहीं तक थी कि क़ैदी को पुकारते रहना चाहिए, यह बात नहीं कि उससे कोई उत्तर भी प्राप्त करना चाहिए।

कभी-कभी जब बिजली चमकती, तो सारा आकाश जल उठता और उस मरु की निर्जनता आँखों के आगे उभर-सी आती।

उसके प्रकाश में दीख पड़ता था, एन्टन अपनी कोठरी के सींखचे दोनों हाथों से पकड़े, उन्हींसे मुँह बाहर निकाले खड़ा था। विक्षिप्त की भाँति वह एक पैर की एड़ी बार-बार उठाकर पटकता था, जिससे पैर की

जञ्जीर झन् , झन् कर उठती थी। कभी-कभी वह बिलकुल ही निश्चल हो जाता, किन्तु फिर अधिक उद्वेग से एड़ी पटकने लगता था और जञ्जीर की झन् , झन पवन की सायँ-सायँ को डुबा देती थी...

एन्टन का बाह्य रूप देखकर यह नहीं जान पड़ता था कि वह क्या सोच रहा है। उसकी वह स्थिर दृष्टि, दबे हुए ओंठ, और शरीर के उत्क्षेप यही कहते थे कि उसका आत्मा किसी विचित्र भाव के फेर में पड़कर, उद्‌भ्रान्त होकर बहुत दूर चला गया है और कठोर, अभेद्य बन्धनों में पड़कर छटपटा रहा है...किन्तु वह भाव क्या था, और वे बन्धन क्या थे, यह कहने का शायद उसके पास कोई साधन ही नहीं था। क्रान्तिकारी विचार-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए लड़ते हैं, किन्तु उसमें ही उन्हें न-जाने कितने विचारों का दमन करना पड़ता है, कितनी अभिव्यक्त चेष्टाओं को नष्ट कर देना होता है!

वे भाव...एन्टन के विशाल हृदय में उठते और दोनों से किसी एक चट्टान से टकराकर नष्ट हो जाते—मैक्सिम और लियोन...

वे भाव एन्टन के व्यक्तित्व के इतने अन्तरतम अंश थे कि शायद एन्टन स्वयं उन्हें न समझ सकता। उसने इतनी बातें, ऐसी बातें, पहले कभी नहीं सोची थीं; किन्तु उसे पहले कभी ऐसा अवसर भी तो नहीं आया था—मैक्सिम और लियोन की तुलना करने का उसने कभी प्रयत्न नहींकिया था...

यदि एन्टन उन भावों को लिखकर, उन्हें सामने रखकर, अपने मन को समझने की चेष्टा करता—

४

बहुत दिनों की बात थी। वसन्त के आगमन से उस गाँव के आस-पास के बाग़ों में सेब के पेड़ फूलों से लद गये थे, यद्यपि उनमें पत्ते नहीं थे। इन्हीं पेड़ों की छाया में, झरने के किनारे थोड़ी-सी घास से हरी भूमि पर दो लड़के बैठे हुए थे—एन्टन और मैक्सिम...

मैक्सिम एक छोटी-सी किताब हाथ में लिये पढ़ रहा था। एन्टन उसकी ओर देखता और घास का एक पत्ता दाँतों से कुतरता चुपचाप बैठा था।

मैक्सिम ने पढ़ना स्थगित करके कहा, 'एन्टन?'

'क्या है?'

'इस किताब में दो सिपाहियों की जो कहानी है, वह तुमने पढ़ी है ?'

'हाँ। पिछले साल पढ़ी थी।'

'मैं भी सिपाही बनूँगा। और फिर बहुत बड़ी फ़ौज लेकर लड़ाई में जाऊँगा। तुम भी चलोगे न ?'

'मैं बहुत फ़ौज लेकर लड़ाई नहीं लड़ूँगा। अकेला ही ज़ार के पास जाऊँगा, और उससे काम माँगूँगा।'

'जैसे इस किताब में सिपाहियों ने किया था ?'

'हाँ। लेकिन किताब में दो सिपाही थे।'

मैक्सिम ने कुछ सोचकर कहा, 'तो मैं भी चलूँगा। लेकिन कहानी की तरह अगर कभी लड़ाई में मुझे चोट लग गई तो ?'

'तो मैं अकेला ही शत्रु को मार दूँगा और तुम्हें उठाकर पीट्रोग्रेड में ले आऊँगा।'

'और अगर तुम भी घायल हो गये तो ?'

'तो क्या ? तुम्हें तो उठाकर बचा ही लाऊँगा चाहे फिर मर ही क्यों न जाना पड़े।'

मैक्सिम मानो सन्तुष्ट होगया। वह फिर अपनी किताब पढ़ने लग गया...

× × ×

कालेज में अभी छुट्टी हुई थी। लड़के निकलकर अपने-अपने घरों की ओर जा रहे थे।

एन्टन और मैक्सिम एक साथ चले जा रहे थे। एन्टन कह रहा था, 'आज ही चित्र शुरू कर दूँगा। एक महीने में तैयार हो जायगा।'

मैक्सिम बोला, 'तो क्या एक महीने तक मुझे रोज़ आकर बैठना पड़ेगा ?'

'नहीं तो ! तीन-चार दिन तो देर-देर तक बैठना पड़ेगा, इतनी देर में मैं छोटी ड्राइंग बना लूँगा। उसके बाद तैलचित्र बनाता रहूँगा, तुम्हें कभी-कभी आकर बैठ जाना होगा—थोड़ी-थोड़ी देर के लिए, ताकि मैं भूल न जाऊँ।'

'अच्छा। तो आज तो आरम्भ कर दोगे न ?'

'हाँ' तुम्हारा चित्र बनाने के लिए अगर कालेज से ग़ैरहाज़िर भी रहना पड़े तो रहूँगा, लेकिन मैक्सिम, तुम भी वह कला क्यों नहीं सीखते ?'

इस समय पीछे से किसीने पुकारा, 'मैक्सिम !'

मैक्सिम रुककर घूम गया और बोला, 'लियोन, तुम कहाँ रह गये थे ?'

तीनों साथ चलने लगे। लियोन बोला, 'मैक्सिम, आज थियेटर देखने चलोगे न ? एक बड़ा राजनैतिक खेल आया है, शायद दो-तीन दिन में सरकार उसे बन्द ही कर दे। मैंने दो टिकट ले रखे हैं।'

'अच्छा, चलूँगा। एन्टन, चित्र फिर सही।'

एन्टन अप्रतिभ होकर बोला, 'जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।'

थोड़ी देर तीनों चुपचाप चले। फिर एन्टन बोला, 'अच्छा, मैं जाता हूँ।'

'कहाँ ?'

'एक जगह चित्र बनाने जाना है, ५० रूबल तय हुए थे। अगर मिल जायँ, तो माँ के लिए कुछ सुभीता हो सकेगा।'

मैक्सिम ने कुछ नहीं कहा। लियोन ने कहा, 'एन्टन, तुमने वह किताब पढ़ ली जो मैंने तुम्हें दी थी ?'

'हाँ, लेकिन उसके बारे में फिर बात होगी।' कहकर सिर झुकाये हुए एन्टन एक ओर लम्बे-लम्बे कदम रखता हुआ चला गया।

× × ×

मैक्सिम, एन्टन और लियोन को क्रान्तिकारी सभा में सम्मिलित हुए कई महीने हो गये थे। कई कारणों से लियोन को घर छोड़कर छिपकर रहना पड़ता था, क्योंकि उसके वारंट जारी हो चुके थे। वह कालेज तो छोड़ ही चुका था, अब नगर छोड़कर जाने को बाध्य हुआ था।

तीनों मित्र एक छोटे बगीचे में बैठे हुए थे। लियोन ने अपने जाने की बात सुनाकर पूछा। 'मैक्सिम, तुम अब क्या करोगे ?'

'मैं तो तुम्हारे साथ जाऊँगा।'

'नहीं, तुम यहीं रहो। एन्टन की सहायता करते रहना। उसे तुम्हारी मदद की बहुत जरूरत रहेगी। और तुम अभी तक सुरक्षित हो, क्यों मेरे साथ जाओगे ? जब तक सुरक्षित रहकर काम कर सको, करो; व्यर्थ अपनी शक्ति कम कर देने से क्या लाभ ? हाँ, अगर तुम्हारे भी वारंट निकले होते, तब दूसरी बात थी। क्यों, एन्टन ! तुम इसे अपने साथ रखोगे ?'

एन्टन ने दूसरी ओर देखते हुए कहा, 'जो काम मैक्सिम मेरे साथ करता है, उसे मैं दूने उत्साह से करता हूँ।'

मैक्सिम फिर लियोन की ओर उन्मुख होकर बोला, 'एक बात और भी है। घर पर मेरा रहना असम्भव हो रहा है।'

एन्टन ने आग्रह से कहा, 'तो फिर मेरे पास आ जाना। मेरे स्टूडियो में बड़े आराम से रह सकोगे।'

मैक्सिम ने उत्तर नहीं दिया। किन्तु उसका मौन स्वीकृति-सूचक नहीं था।

एन्टन ने फिर कहा, 'अब पहले की-सी हालत नहीं है। मैं अपनी चीज़ों से काफ़ी कुछ काम लेता हूँ। और मेरी माँ भी प्रसन्न होगी। अगर हमारी हालत ख़राब भी होती, तो भी...मैक्सिम, तुम आजाओगे न ?'

मैक्सिम ने कुछ हठ के साथ कहा, मैं तो लियोन के साथ जाऊँगा। नहीं तो वह भी यहीं रह जाय।'

एन्टन चुप हो गया। लियोन ने कुछ हँसकर कहा, 'मैक्स, तुम बड़े ढीठ हो।'

मैक्सिम ने समझ लिया कि लियोन उसे साथ ले जायगा। उसके मुख पर प्रसन्नता झलक गई।

× × ×

सन्ध्या के बुझते हुए प्रकाश में वोल्गा-तटस्थ ज़ारेव नगर के आस-पास की दलदल के प्रदेश में बीच से लथपथ दो युवक भागे जा रहे थे... उन दोनों के हाथ में बन्दूकें थीं, किन्तु उनके मुख पर शिकारी का हिंसा-भाव नहीं था, बल्कि शिकार का त्रस्त, वेदना-पूर्ण भाव...

उनके पीछे कुछ दूर पर मशालें लिए हुए अनेक सैनिक आ रहे थे, बीच-बीच में कोई रुककर बन्दूक से फ़ायर करता और फिर आगे बढ़ा चला आता...

एकाएक भागते हुए दो व्यक्तियों में से एक लड़खड़ाकर गिरा। गिरते हुए बोला, 'एन्टन, तुम निकल जाओ। मैं तो...'

दूसरा व्यक्ति रुका और बोला, 'मैक्सिम !'

कोई उत्तर नहीं मिला। एन्टन ने हाथ से बन्दूक फेंक दी और पीठ पर मैक्सिम को उठाकर दौड़ने लगा। एक बार अस्पष्ट स्वर में बोला, 'मैक्सिम, तुम्हें छोड़कर कैसे...' और फिर उन्मत्त, अरोक मशीन की तरह दौड़ता गया। उसके शरीर में मानो कोई दैवी शक्ति आ गयी थी, उसकी आँखों में दैवी तेज धधक रहा था, और शायद उसके अन्तस्तल में...

दलदल धीरे-धीरे पक्की धरती का रूप धारण कर रही थी।...थोड़ी देर में एन्टन बिलकुल सूखी ज़मीन पर पहुँच गया। उसने घूमकर देखा, सैनिकों की मशालें कहीं नहीं दीख पड़ती थीं। वह फिर आगे बढ़ने लगा, और थोड़ी देर में एक छोटे-से हरियाली-भरे और सुरक्षित स्थान में पहुँच गया। यहाँ उसने मैक्सिम को भूमि पर रख दिया और धीरे-धीरे उसका शरीर टटोलने लगा। गोली मैक्सिम की टाँग में लगी थी...एन्टन ने अपना कोट उतारा, फिर कमीज़ और उसके चिथड़े करके पट्टियाँ बनाईं। इनसे उसने घाव को बाँध दिया। फिर कोट के जेब से उसने एक छोटा-सा फ्लास्क निकाला और मैक्सिम का मुख खोलकर उससे लगा दिया।

मैक्सिम को इतना भी होश नहीं था कि फ्लास्क से ब्राण्डी का एक घूँट भर ले। किन्तु ब्राण्डी धीरे-धीरे उसके गले के नीचे उतर गई। उसका शरीर कुछ काँपा, फिर उसने बहुत क्षीण स्वर में पुकारा 'लियोन!'

एन्टन बड़ी व्यग्रता से उसके मुख की ओर देख रहा था। मैक्सिम की पुकार सुनकर उसने एक लम्बी साँस ली, और चुप हो रहा।

मैक्सिम ने फिर पुकारा, 'लियोन, कहाँ हो?'

एन्टन ने धीरे से कहा, 'मैक्सिम, यह मैं हूँ, एन्टन।'

मैक्सिम ने आँखें खोलीं। बोला—'लियोन कहाँ गया?'

'लियोन पहले ही बचकर निकल गया था, अब तक तो जारेव पहुँच गया होगा। तुम्हारी चोट कैसी है?'

मैक्सिम कुछ नहीं बोला। बहुत देर तक दोनों चुप रहे। फिर एन्टन ही बोला, 'मैक्सिम!'

'क्या है?'

'लियोन तो बच गया है, तुम उदास क्यों होते हो?'

'लियोन निकल गया होगा, मुझे इसीकी ख़ुशी है। अब तुम क्या करोगे, एन्टन?'

एन्टन ने सहसा उत्तर नहीं दिया। फिर बोला, 'मैक्सिम, तुम्हारी चोट कैसी है?'

'इतनी बुरी नहीं है। पर चल नहीं सकता।'

'तो कोई चिन्ता नहीं है। मैं तुम्हें उठाकर चलूँगा।'

'कहाँ?'

'बहिन हिल्डा के गाँव।'

'बीस मील—मुझे उठाकर !'

एन्टन कुछ मुस्कराकर कहा, 'चार मील तो अभी उठाकर लाया हूँ—दलदल में। और फिर अब तो बन्दूकों का बोझ भी नहीं है।'

'क्यों, वे क्या हुईं ?'

'तुम्हें उठाना था, इसलिए मैंने वहीं फेंक दीं। साथ ले तो आता, लेकिन तुम्हें उठाये हुए निशाना तो लगा नहीं सकता था। इसलिए व्यर्थ था। लेकिन अभी रिवाल्वर तो हैं ही, कोई चिन्ता नहीं है।'

मैक्सिम थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, 'एन्टन, अगर तुमको सैनिक पकड़ लेते तो ?'

एन्टन बोला, 'तो क्या तुम्हें पकड़ा देता और ख़ुद भाग निकलता ? मैक्स, तुम अभी बहुत-सी बातें नहीं जानते हो...' कहकर उसने मुँह फेर लिया।

बहुत देर तक फिर कोई नहीं बोला। फिर मैक्सिम ने मानो डरते-डरते कहा, एन्टन, मुझे तुम्हारे प्रति कितना कृतज्ञ होना चाहिए...' कहते-कहते वह एन्टन के शरीर में एक कम्पन का अनुभव करके एकाएक रुक गया।

एन्टन ने व्यथा-विकृत, भर्राई हुई आवाज़ में कहा, 'मैक्स ! मैक्स !' फिर बहुत धीमी आवाज़ में, जिसे मैक्स ने नहीं सुना, 'होना चाहिए—बस इतना ही !...'

एन्टन ने बदले हुए स्वर में कहा, 'मैक्स उठो, अब चलें। नहीं तो मेरा शरीर अकड़ जायगा।'

उसने मैक्स को फिर कन्धे पर उठाया और चल पड़ा।

किन्तु अब उसकी चाल में वह दैवी उग्रता नहीं थी।

× × ×

एन्टन ने धीरे-धीरे कोठरी के सीख़चों से सिर हटाया और क्षितिज पर के क्षीण आलोक को देखने लगा। धीरे-धीरे बोला, लियोन, तुम हमारे नेता हो, मुझसे अधिक समझदार, अधिक अनुभवी और तुम्हारे पास साधन भी बहुत हैं। लेकिन मैक्सिम भी बहुत काम कर सकता है—'

फिर एकाएक सिसककर, 'मैक्स, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ !'

एन्टन दरवाज़े से हटकर टहलने लगा। ज़ञ्जीर फिर मुखरित हो उठी।

'लियोन, मैं स्वार्थी नहीं हूँ ! तुम क्या समझोगे ? और वासिलीव ? अगर तुम फाँसी लग गये, तो भी वासिलीव क्या समझेगा—कि मैं

स्वार्थी था ? पर मैक्स, तुम्हें कितनी ख़ुशी होगी—लेकिन मेरे प्रति न जाने क्या...तुम क्या कहोगे कि मैं अपने प्रति भी सच्चा नहीं हो सका ?'

थोड़ी देर तक जञ्जीर के स्वर के अतिरिक्त शान्ति रही। फिर एन्टन कोठरी के बीच में खड़ा होकर बोला, 'मैक्सिम, तुम ग़लत समझोगे... मैक्स !' और फिर वहीं भूमि पर बैठ गया।

५

मैक्सिम आप-ही-आप बोला, 'लियोन, अगर तुम बच जाओगे, तो कितना अच्छा होगा !'

वह उस समय से उसी प्रकार कोठरी के मध्य में भूमि पर बैठा हुआ था। किन्तु जो तूफ़ान एन्टन के अन्दर झकझोर कर रहा था, उसकी शायद मैक्सिम को कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उसके युवा हृदय में विकल्प के लिए इतना स्थान नहीं था। उसके आगे यह समस्या नहीं थी कि कौन-सा प्रेम बड़ा होता है, और कौन-सा छोड़ा जा सकता है। उसे यह नहीं देखना था कि आदर्श की रक्षा के लिए प्रिय की हत्या करनी होगी, या प्रिय की रक्षा करके स्वार्थी कहलाना पड़ेगा। एन्टन की स्थिति असम्भव थी। अगर वह मैक्सिम की रक्षा करता, तो लियोन क्या समझता ? यही कि एन्टन ने औचित्य पर विचार नहीं किया, केवल अपने प्रेम पर ही ? और वासिलीव...किन्तु मैक्सिम को छोड़ देना—जो कि काम में लियोन से कम नहीं था, और इसके अतिरिक्त...

मैक्सिम ने इतनी दूर विचार नहीं किया था। उसके मन में बार-बार यही भावना उठती —एन्टन की अपेक्षा लियोन ने अधिक काम किया है। भविष्य में भी शायद लियोन ही अधिक काम करेगा। एन्टन बहुत लगन से काम करता था, पर एन्टन का परिचय उतना नहीं था जितना लियोन का। और वासिलीव भी एन्टन की सहायता नहीं कर सकता—वह देश छोड़कर स्विटज़रलैण्ड जा रहा था—रूस में उसका रहना असम्भव हो गया था।

इसके अतिरिक्त...किन्तु वह बात जब भी मैक्सिम के आगे आती, तो वह अपना ध्यान उस पर से हटाने की चेष्टा करता था। कभी-कभी वह बोल उठता—'नहीं, लियोन, इसलिए नहीं। केवल तुम्हारी ज़रूरत देखकर ही मैं सोचता हूँ कि तुम्हारे प्रति मेरे जो भाव हैं, उन्हें निर्णय-कार्य्य

में नहीं आने दूँगा !' पर फिर भी, बार-बार उसका मन कहता, 'लियोन प्रिय है, उसको बचा लो !'

'एन्टन मुझे बहुत चाहता है। पर मैं क्या कर सकता हूँ ? कृतज्ञता को क्या करूँ—आदर्श को कैसे भुलाऊँ ?'

एक व्यक्त कुतूहल मैक्सिम के हृदय में उमड़ रहा था। 'मार्टिनीव ने एन्टन से पूछा है ? लियोन से पूछा है ? वह किसका नाम बतायेगा ? नहीं ! मेरा ?...! और एन्टन ? वह शायद मेरा ही नाम बताये...'

'मेरे लिए सोचना इतना कठिन नहीं है, लियोन !

वह व्यक्त कुतूहल मैक्सिम के मन में घूम रहा था, किन्तु उद्विग्न नहीं हो रहा था। वह कोठरी में लेट गया, और थोड़ी ही देर में सो गया।

६

थाने के अन्दर कहीं घण्टा बजा। एन्टन चौंका, और गिनने लगा--एक, दो, तीन, चार, ग्यारह, बारह ! वह उठा और टहलने लगा। उसके हाथ में जो कागज़-पेंसिल थे, वे उसने अपने कोट की जेब में डाल दिये। दरवाज़ा खुला। मार्टिनोव अन्दर आया और बोला, 'कहो, एन्टन !'

एन्टन चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। मार्टिनोव फिर बोला, 'एन्टन, निर्णय कर लिया ?'

'हाँ।'

'क्या ?'

'आप लियोन को छोड़ दें।' कहकर एन्टन ने मुँह दीवार की ओर फेर लिया।

मार्टिनोव ने पूछा, 'एन्टन, तुमने यह निर्णय किस आधार पर किया, यह पूछ सकता हूँ ?'

एन्टन ने कोई उत्तर नहीं दिया। मार्टिनोव थोड़ी देर उसकी ओर देखता रहा, फिर बोला, 'यह जेब में क्या है ?

एन्टन फिर भी कुछ नहीं बोला। मार्टिनोव ने धीरे से वह कागज़ उसकी जेब से निकाल लिया और लैम्प के पास जाकर देखने लगा।

वह मैक्सिम का एक छोटा-सा चित्र था।

मार्टिनोव ने कोमल स्वर में कहा, 'एन्टन, मालूम होता है, तुमने यह निश्चय सहल ही नहीं किया।'

एन्टन ने धीरे से कहा, 'शायद। पर यह अनिवार्य था।'

'यह चित्र—इसे मैं ले जाऊँ? यह एक चिह्न रह जायगा—तुम्हारा और मैक्सिम का।'

एन्टन ने भर्राई हुई आवाज़ में कहा, 'अच्छा।'

मार्टिनोव ने विस्मित किन्तु कोमल स्वर में कहा, 'एन्टन! यह तुम्हें शोभानहीं देता! अच्छा, मैं जाता हूँ। ईश्वर तुम्हें शान्ति दे!' वह फिर धीरे-धीरे बाहर चला गया।

जब दरवाज़ा बन्द हो गया, तब एन्टन अपने स्थान से हिला। उसने लैम्प बुझा दिया और फिर चुपचाप नीचे लेट गया। उसके बाद उसके मन में कितने तूफ़ान उठकर बैठ गये—-यह पता नहीं...

७

'मैक्सिम, मैक्सिम, उठो।'

'मैक्सिम उठ बैठा। मार्टिनोव ने पूछा, मैक्सिम क्या सोचा?'....

'मैंने सोच लिया है। लियोन को छोड़ दो।'

मार्टिनोव ने पूछा, 'तुमने एन्टन और लियोन की....तुलना....किस आधार पर यह बताओगे?'

'क्यों?'

'ऐसे ही। मैं पुलिस-अफ़सर हूँ न, मनोविज्ञान का अध्ययन करता रहता हूँ। इसके अतिरिक्त सहानुभूति होने के कारण---'

'लियोन ज्यादा काम का आदमी है।'

मार्टिनोव ने स्थिर दृष्टि से मैक्सिम की ओर देखते हुए कहा, 'तुम जानते हो, एन्टन का क्या मत है?'

मैक्सिम ने औत्सुक्य दिखाते हुए पूछा, 'क्या?'

अब मैं तुम्हारा निर्णय सुन चुका हूँ, अब बताने में कोई हानि नहीं है लेकिन मुझे इसकी बहुत खुशी है कि तुम्हारी राय मिलती है।

मैक्सिम ने चौंककर कहा, 'क्या?'

'उसने भी वही कहा था।'

मैक्सिम के मुख की आकृति बदल गई। वह बहुत देर तक चुप रहा; फिर अपने-आपसे ही बोला, 'सच...'

मार्टिनोव ने पूछा, 'मैक्सिम क्या सोचने लग गये?'

'कुछ नहीं...'

एन्टन ने तुम्हारा एक चित्र बनाया है—यह देखो। कहकर मार्टिनोव ने मैक्सिम की ओर बढ़ा दिया। मैक्सिम उसकी ओर देखता रहा, किन्तु उसे लेने के लिए हाथ आगे नहीं बढ़ाया। कुछ देर देखकर उसने एक लम्बी साँस ली और बोला, 'झूठ! एन्टन, तुमने बहुत झूठ बोला था।'

मार्टिनोव ने चित्र हटा लिया और बोला, 'क्या है, मैक्सिम ?'

कुछ नहीं। इस वक्त आप चले जायँ। मैं सोचना चाहता हूँ!'

मार्टिनोव धीरे-धीरे बाहर चला गया। उसे जाते देख मैक्सिम ने पुकारकर कहा, 'सुनो मार्टिनोव, एक बात पूछता हूँ।'

मार्टिनोव लौटा और बोला, 'क्या ?'

'लियोन से भी पूछा था ?'

'क्यों ?'

'उसने क्या राय दी थी ?'

'तुम दोनों की राय मिलती है, इसलिए लियोन की राय का महत्त्व नहीं है। इसके अतिरिक्त...पूछकर क्या करोगे ?'

'मैं—जानना चाहता था...अच्छा, शायद जानने से दुःख ही हो—जाने दो...' कहकर मैक्सिम ने मुँह फेर लिया।

मार्टिनोव एक लम्बी साँस लेकर बाहर चला गया।

८

पौ फट रही थी। पर बर्फ का गिरना भी बन्द नहीं हुआ था...

एन्टन रात-भर सो नहीं सका था। वह अब दरवाज़े के पास बैठा हुआ था। इसी समय मार्टिनोव भीतर आया और बहुत देर तक करुणा-भरी दृष्टि से एन्टन की ओर देखता रहा। एन्टन ने पूछा, 'क्या है ?'

मार्टिनोव ने दुःखित स्वर में कहा—'एन्टन, तुम ईश्वर में विश्वास करते हो ?'

एन्टन ने विस्मित होकर पूछा, 'क्यों ?'

'कुछ नहीं। शायद तुम्हें प्रार्थना करनी हो!' कहकर मार्टिनोव ने एक तार एन्टन के आगे रख दिया। एन्टन ने तार उठाकर पढ़ा और बोला, 'अच्छा!'

तार में लिखा था—'कोर्ट मार्शल की आज्ञा है—अभियुक्तों को

फ़ौरन गोली से उड़ा दो। जनरल ब्रुसिलोव।'

एन्टन ने शान्त स्वर में पूछा, 'फिर ?'

मार्टिनोव कुछ बोल नहीं सका। एन्टन ने फिर पूछा, 'कितने बजे होगा ?'

'सात बजे...सिपाही तैयार हो रहे हैं।' फिर कुछ रुककर 'एटन्न, मेरे वश के बाहर की बात है...लियोन को ही बचा सका हूँ...'

'कुछ नहीं, चिन्ता नहीं है। मालूम होता है, मैक्सिम ने भी लियोन का नाम बताया होगा।'

'हाँ।'

'मैं पहले ही से जानता था।'

मार्टिनोव ने ध्यान से एन्टन की ओर देखकर चाहा, उसके भाव पहचान लूँ। किन्तु एन्टन के चेहरे पर निरीह शान्ति का जो परदा था, उसे मार्टिनोव नहीं भेद सका।

फिर उसने पूछा, 'एन्टन, तुमने मैक्सिम का नाम क्यों नहीं लिया ?'

एन्टन ने अन्यमनस्क-सा होकर उत्तर दिया, 'किसीके मन में यह भाव उत्पन्न होने देने से कि रूस का एक भी क्रान्तिवादी स्वार्थी है, यही अच्छा है कि हम अपने अभिन्नतम मित्र का बलिदान कर दें।'

मार्टिनोव ने कहा, 'मैंने नहीं समझा।'

'विवेक से बढ़कर भी कोई प्रेरणा होती है।'

एन्टन ने इससे अधिक समझाकर कहने की जरूरत नहीं समझी। मार्टिनोव चला गया। एन्टन धीरे से बोला, 'मैक्स, तुमसे क्या आशा करूँ...'

६

सूर्योदय हो रहा था। वायु बन्द हो गई थी, किन्तु थोड़े बादल छाये थे, और धुनी हुई रुई की तरह कोमल बर्फ़ गिर रही थी।

थाने के पीछे, एक पर्णहीन वृक्ष के नीचे तख़्तों से बँधे हुए दो व्यक्ति खड़े थे। एन्टन और मैक्सिम। उनके बीस कदम की दूरी पर आठ सिपाही बन्दूकें लिये खड़े थे और उनसे कुछ दूरी पर एक सार्जेंट। मार्टिनोव वहाँ नहीं था। वह एक बार आकर, करुणा-भरी दृष्टि से दोनों की ओर देखकर चला गया था।

सिपाहियों ने बन्दूकें तानी थीं। मैक्सिम उन बन्दूकों की ओर

'एक घण्टे में—'

प्रभाकर जब अपने बड़े कोट के नीचे भरा हुआ ४५ बोर का रिवाल्वर लगाकर, जेब में पड़े हुए गोलियों के बटुए को हाथ से छूकर, एक बार शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखकर चलने लगा, तब रजनी ने शीशे में उसके प्रतिबिम्ब की ओर होकर कहा, 'कब लौट आओगे ?'

प्रभाकर ने शीशे में पड़ते हुए रजनी के प्रतिबिम्ब की ओर दृष्टिपात करके कहा, "अभी घण्टे-भर में चला आऊँगा। क्यों, भूख बहुत लगी है क्या ?"

रजनी ने कहा, 'नहीं, वैसे ही—', कहकर चुप हो गई।

प्रभाकर ने धीरे से पुकारा, 'रजनी !' और एक बार शीशे की ओर मुस्कराकर खटाखट सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

रजनी दीर्घ निःश्वास छोड़कर उठी और किवाड़ की साँकल लगाकर फिर अपने स्थान पर बैठ गयी।

उसके सामने दो पुस्तकें खुली पड़ी थीं। एक हैरल्ड लास्की की कम्युनिज्म और दूसरी भवभूति का उत्तररामचरित। प्रभाकर के चले जाने के बाद उसने पहली पुस्तक बन्द कर दी, और उत्तररामचरित के श्लोक धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी।

किन्तु उसका मन नहीं लगा। थोड़ी ही देर में उसका ध्यान फिर उस दर्पण की ओर चला गया, और वह उसमें अपना गम्भीर, कुछ करुण, और कुछ चिन्तित मुख देखती हुई न-जाने किस विचार में लीन हो गई।

× × ×

प्रभाकर और रजनी का विवाह हुए दो वर्ष से अधिक हो गया था। किन्तु विवाह-सुख किसे कहते हैं, यह उसे कभी नहीं ज्ञात हुआ। उसे तो अभी तक यही अनुभव होता रहा कि एक सिपाही का जीवन कितना कठोर हो सकता है।

रजनी अच्छे और धनी घर की बेटी थी, इसलिए उसकी 'ट्रेनिंग' भी वैसी ही थी और उसके विचार भी वैसे ही। पति के घर में आकर उसने देखा कि जिन सिद्धान्तों को वह अब तक अटल समझती

आयी थी, उनका यहाँ ज़रा भी मान नहीं था। यहाँ राजा की शक्तिमत्ता में, सरकार की निष्पक्षता में, धन की सत्ता में, कुछ भी श्रद्धा नहीं थी—यहाँ निर्धनों और अछूतों की ही पूछ होती थी, यहाँ मज़दूर और किसान ही सबसे बड़ी शक्ति गिने जाते थे। पहले तो रजनी को इससे बहुत आघात पहुँचा। वह लड़कियों के एक कालेज में पढ़ी हुई थी, और उसके मन में वही अहंमन्यता का भाव था जो कि प्रायः ऐसे कालेजों की लड़कियों में होता है। घर की संस्कृति से यह भाव नष्ट नहीं, पुष्ट ही हो गया था। यहाँ आकर जब उसने ये रंग-ढङ्ग देखे, तब पहले तो उसके मन में साधारण विरोध-भाव उत्पन्न हुआ। किंतु पति से तर्क करने पर ज़ब वह बार-बार हारने लगी तब उसका भाव एक दृढ़ विद्रोह में परिणत हो गया। वह प्रत्येक बात में पति के मत का खण्डन करती और अपने मन की पुष्टि के लिए कालेज में पढ़ी हुई किताबों से उद्धरण दिखाया करती। प्रभाकर उन सब वारों को सहज ही सह लेता और हँसी-हँसी में रजनी के तर्कों का खण्डन कर देता। रजनी जब अप्रतिभ होकर चुप हो जाती, तब प्रभाकर उसके पास आकर धीरे से एक चपत लगाकर कहता, 'रजनी, अभी तुम बहुत बदलोगी—बहुत ! तुम्हारे घरवालों ने तो तुम्हारा अचार डाल रखा था—कभी बाहर की हवा भी नहीं लगने दी !" इससे रजनी का क्षोभ बहुत कुछ मिट जाता था, किन्तु पूर्णतया नहीं। वह चुप होकर चली जाती थी।

प्रभाकर के माता-पिता मर चुके थे। वह एक छोटे-से घर में अकेला ही रहता था। वह लाहौर के एक कालेज में लेक्चरार था, और ग्वाल-मण्डल में किराये के एक छोटे-से मकान में रहता था। प्रातःकाल उठकर वह कालेज के लिए अपने नोट तैयार करता। फिर कुछ राजनीति की पुस्तकें पढ़ता, और नौ बजे कालेज चल देता। उसके बाद रात तक रजनी को उसके दर्शन नहीं होते। कभी-कभी लौटने पर रजनी इससे पूछती, 'इतनी देर तक कहाँ रहते हो ?' तो वह हँसकर उत्तर देता, 'आज विद्यार्थियों की एक सभा में लेक्चर देने चला गया था, इसलिए देर हो गयी।' या 'आज अमुक मिल के मज़दूरों ने बुलाया था'—कभी-कभी रजनी क्षुब्ध होकर निश्चय करती कि आज वे आयेंगे तो उनसे बोलूँगी नहीं, किन्तु जब दिन-भर का थका-माँदा प्रभाकर बग़ल में मोटी-मोटी किताबों का गट्ठर दबाये घर आता और सीढ़ियों के ऊपर आकर रजनी

को देखते ही उसकी मुखश्री खिल उठती, और वह उल्लास-भरे स्वर में पुकारता, "रजनी!" तब वह किसी तरह भी नहीं रुकती थी...बल्कि प्रायश्चित-स्वरूप दूसरे दिन सबेरे जब प्रभाकर राजनीति और अर्थनीति की किताबें लेकर पढ़ने बैठता, तब वह चुपचाप उसके पास आकर बैठ जाती, कोई किताब सामने खोलकर रख लेती और गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर उसकी ओर देखा करती। बीच-बीच में जब वह कनखियों से पति की ओर देखती, तब प्रभाकर ठठाकर हँस पड़ता था, और रजनी भी विवश होकर मुस्करा देती थी। प्रभाकर कहता, 'रजनी, तुम भी इन्हें पढ़ डालो, बहुत-सी नयी बातें जान जाओगी।'

रजनी कभी भूलकर भी इन किताबों में रुचि नहीं दिखाती थी। वह कहती, "उँह, इनको पढ़कर क्या होगा? कालेज में थोड़ा पढ़ आयी थी, उसीसे रोज़ आपस में लड़ाई हो जाती है!" फिर शीघ्र ही दोनों किसी निगूढ़ विषय पर बहस करने लग जाते...

किन्तु जब प्रभाकर कालेज चला जाता, तब रजनी उन्हीं पुस्तकों को निकालकर बड़े ध्यान से पढ़ती थी। केवल इस बात का ध्यान रखती थी कि पति के आने से पहले उसका स्वाध्याय समाप्त हो जाय।

धीरे-धीरे उसका विचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता जा रहा था। उसे बहुत-सी बातें समझ में आने लगी थीं, जो कि कालेज में और घर में उससे छिपाकर रखी जाती थीं और जिन्हें सुनना भी वह पहले पाप समझती थी। साथ-ही-साथ उसके पुराने विश्वास भी बहुत-से मिटते जाते थे। ज्यों-ज्यों उसको अपनी पुरानी भूलों [का ज्ञान होता जाता था, त्यों-त्यों उसकी अहंमन्यता भी मिटती जाती थी। किन्तु इतने दिनों की लड़ी हुई लड़ाइयों की ओर इतने दिनों से किये गये मान को याद करके वह अपने पति से इस बात को छिपाती थी कि उसका मन कितना परिवर्तित हो गया है।

एक दिन सन्ध्या के समय वह अपने घर के कोठे पर बैठी—नीचे की दूकानों में जलती हुई गैस, लैम्पों और उनके प्रकाश में जगमगाते हुए फलों की कतारों की ओर देख रही थी। प्रभाकर अभी तक नहीं लौटा था।

धीरे-धीरे रात हो गई। लेकिन प्रभाकर नहीं आया। रजनी की चिन्ता बढ़ने लगी। वह एक किताब लेकर वहीं बैठ गई और पढ़ने लगी।

लगभग ग्यारह बजे प्रभाकर ने दरवाजा खटखटाया और कोमल स्वर में पुकारा, 'रजनी !'

रजनी चौंककर उठी और नीचे जाकर प्रभाकर को लिवा लाई। दोनों चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में आकर खड़े हो गये, कुछ बोले नहीं। प्रभाकर ने धीरे-धीरे कोट उतारा और कुरसी पर बैठ गया।

रजनी क्षण-भर उसकी ओर देखती रही। फिर बोली, 'खाना नहीं खाओगे ?'

'आज खा आया हूँ।'

'कहाँ ?'

प्रभाकर बिना कुछ उत्तर दिये मुस्करा दिया। रजनी ने कहा, 'अच्छा, चलकर मुँह-हाथ तो धो लो, बिलकुल गर्द से सने हो।'

प्रभाकर ने कहा, 'तुम चलो, सोओ, मैं अभी आया।'

रजनी को ज्ञान पड़ा, अवश्य ही कोई असाधारण बात हुई है। स्नेह से बोली—दिन-भर कहाँ रहे ?'

प्रभाकर ने प्रश्न टालते हुए कहा, 'कितना थक गया हूँ !'

रजनी ने आकर उसका हाथ पकड़ लिया और बोली, 'उठो, चलो, यहाँ बैठे रहने की जरूरत नहीं है।' कहकर वह धीरे-धीरे प्रभाकर को खींचने लगी। प्रभाकर उठ खड़ा हुआ और कोट को उठाकर कंधे पर रखने लगा।

रजनी बोली, 'इसे यहीं पड़ा रहने दो न, कल सँभाल लूँगी !' कहकर उसने कोट खींच लिया।

कोट जमीन पर गिर पड़ा। किसी ठोस वस्तु के गिरने का 'ठक' शब्द हुआ। रजनी ने कहा, 'यह क्या है ?' और प्रभाकर के रोकते-रोकते कोट के जेब में हाथ डाल दिया।

प्रभाकर कहने को हुआ, 'कुछ नहीं है।' किन्तु रजनी के मुख की ओर देखकर चुप रह गया।

रजनी का मुख फीका पड़ गया था, किन्तु बड़े यत्न से उसने अपने को वश में किया और कोट उतारकर कमरे की ओर चल पड़ी। प्रभाकर भी सिर झुकाकर उसके पीछे-पीछे चला।

कमरे में पहुँचकर रजनी ने कोट की जेब में से दो पिस्तौलें और कुछ गोलियाँ निकालीं, और उन्हें ले जाकर अपने कपड़ों में छिपा दिया।

फिर प्रभाकर के पास आकर बोली, 'ये तुम क्यों लाये ?'

प्रभाकर ने सहसा कोई उत्तर नहीं दिया। फिर बोला, 'मैं क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गया हूँ।'

रजनी क्षण-भर स्थिर दृष्टि से प्रभाकर की ओर देखकर बोली, 'तुम्हें अपने अलावा और किसीका भी ध्यान है ?'

प्रभाकर फिर भी चुप रहा।

रजनी ने कहा, 'जाओ। इस वक्त मैं कुछ बात नहीं करना चाहती।'

प्रभाकर चला गया।

इसके बाद सप्ताह-भर रजनी पति से नहीं बोली। प्रभाकर को भी उससे बोलने का साहस नहीं हुआ। वह स्वयं खाना पकाकर खाता और कालेज चला जाता। बीच-बीच में वह कभी-कभी रजनी की ओर करुण और स्नेह-भरी दृष्टि से देख लेता था, किन्तु बोलता कुछ नहीं था। रजनी कभी इशारे से भी उसके स्नेह का उत्तर या स्वीकृति नहीं देती थी।

आठवें दिन फिर प्रभाकर बहुत देर तक नहीं आया। लगभग बारह बजे रात को उसने आकर किवाड़ खटखटाये, किन्तु रजनी को पुकारा नहीं। ऊपर आकर वह अपने कमरे में खड़ा होकर इधर-उधर से पुस्तकें, काग़ज़, कुछ कपड़े इत्यादि समेटकर ज़मीन पर रखने लगा।

रजनी चुपचाप खड़ी देखती रही।

प्रभाकर जब अपना काम कर चुका, तब एक अँगड़ाई लेकर खड़ा हो गया और बोला, 'रजनी, अब भी नहीं बोलोगी ?'

उसके स्वर में न-जाने क्या था, रजनी को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह बिदा माँग रहा हो। उसने कहा, 'अब भी क्या ?'

प्रभाकर बोला, 'रजनी, मैं इतने दिन तक तुमसे कहने का साहस नहीं कर सका...'

रजनी बोली, 'ऊपर चलो, वहाँ बात करेंगे!' कहकर प्रभाकर को सोने के कमरे में ले गई और किवाड़ बन्द कर लिये।

प्रभाकर ने बिना भूमिका के कहा, 'रजनी, मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा। मेरे नाम वारंट निकल गया है।'

× × ×

आज इस घटना को छः मास बीत गये। इन छः महीनों में रजनी ने कितने परिवर्तन देखे थे...

आज दीवाली थी, किन्तु रजनी के घर में दिया नहीं जला। दिन-भर उसने खाना भी नहीं खाया था। इससे पहली रात ही किसीने प्रभाकर को बाजार में देखा था और पहिचानकर पीछा किया था, इसीलिए प्रभाकर को चक्कर काटकर आना पड़ा था और आज दिन-भर वह घर से बाहर नहीं निकला था। किन्तु शाम तक भूखी रहने के बाद जब रजनी ने कहा, 'कितनी फीकी दीवाली रहेगी।' तब एकाएक प्रभाकर बोला, 'मैं बाहर जाता हूँ।'

'क्यों ?'

'काम है।'

'क्या काम है, रजनी समझ गई। उसे खेद भी हुआ कि उसने ऐसी बात क्यों कही। वह बोली, अब बैठे रहो, यहीं से दूसरों की दीवाली देख लेंगे। तुमने तो दूसरों को सुखी करने का व्रत किया है न !'

प्रभाकर ने रजनी के मुख की ओर ऐसे देखा मानो कुछ पूछ रहा हो। 'यह कोई श्लेष या व्यंग्य तो नहीं है ?' 'किन्तु रजनी के मुख पर सहज स्नेह का भाव देखकर उसे कुछ चोट पहुँची। वह बोला, 'नहीं, रजनी, हमें अपनी दीवाली भी अवश्य मनानी होगी। मैं मिठाई-विठाई लिये आता हूँ, तुम बैठो।'

रजनी चुप होकर बैठ गयी। प्रभाकर रिवाल्वर इत्यादि से लैस होकर चल दिया। रजनी अपनी पढ़ाई छोड़कर सामने पड़े हुए दर्पण में मुँह देखती हुई न-जाने क्या-क्या सोचने लगी।

उसे अपने विवाहित जीवन की घटनाएँ याद आने लगीं, और उन घटनाओं की कटुता या प्रियता के अनुसार उसके मुख पर आलोक और छाया का एक चञ्चल नृत्य होने लगा। किन्तु आलोक क्षणिक और छाया स्थायी होती थी। बीच-बीच में वह पास टँगी हुई घड़ी की ओर देख लेती थी।

आध घण्टे से अधिक हो गया। रजनी की विचार-तरंग शान्त नहीं हुई।

इसी समय घर से कुछ ही दूर पर धड़ाके का शब्द हुआ—'ठायँ ! ठायँ ! ठायँ !' फिर कुछ रुककर दो बार और—'ठायँ ! ठायँ !' रजनी चौंककर उठ खड़ी हुई। लपककर उसने सीढ़ियों का निचला किवाड़ बन्द कर लिया। इस अनैच्छिक क्रिया के बाद वह फिर अपने कमरे के मध्य में आकर खड़ी हो गयी। उसका मन अनियन्त्रित होकर दौड़ने लगा।...

यह ठायँ-ठायँ क्यों ? कहीं वही तो नहीं हुआ जिसकी आशंका थी... अब क्या होगा ? पुलिस घर पर आ जायगी...

इसी बीच में फिर चार-पाँच बार लगातार धड़ाके हुए, फिर कुछ देर के बाद एक, फिर एक और...फिर शान्ति...

अगर वे बन्दी हो गये—या आहत, या...रजनी की कल्पना भूमि पर पड़े हुए ख़ून से लथपथ एक शरीर के चित्र के सामने आकर एकाएक रुक गई...

उसने घोर मानसिक प्रबलता से अपना मन उधर से हटा लिया और अपने कर्त्तव्य पर विचार करने लगी। अब मुझे क्या करना होगा ?

रजनी को सहसा उस रात की याद आ गई, जब उसने प्रभाकर के साथ घर छोड़ा था।

सप्ताह-भर के मौन के बाद जब एक दिन प्रभाकर ने आकर कहा, 'रजनी, मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा, मेरे नाम वारंट निकल गया है।' तब रजनी चकित होकर रह गई थी। किन्तु बहुत देर चुप रहकर बोली, 'और मैं—?'

प्रभाकर जानता था कि यह प्रश्न अवश्य होगा, किन्तु उसके पास इसका कोई उत्तर नहीं था। वह थोड़ी देर चुप रहकर बोला, 'अभी तो तुम घर पर चली जाओ, फिर कुछ दिनों में मैं प्रबन्ध कर दूँगा।'

रजनी ने कहा, 'एक बात कहती हूँ, ध्यान से सुनो। मुझे साथ ले चलोगे ?'

अत्यन्त विस्मित होकर प्रभाकर बोला, 'तुम्हें, रजनी ?'

'हाँ, मुझे। मैं तुम्हारी मदद नहीं करूँगी, कर भी नहीं सकती। लेकिन तुम्हारे काम में दख़ल भी नहीं दूँगी। चाहे जैसे जीवन व्यतीत करना पड़े, तुम्हें उलाहना नहीं दूँगी। तुम इतना भी विश्वास कर लो कि तुम्हारी जो बातें जान जाऊँगी, वह किसीसे कहूँगी नहीं। इसके अलावा और क्या करना होगा, बता दो। देखूँ, कर सकती हूँ कि नहीं।'

प्रभाकर गम्भीर होकर बोला, 'रजनी, यह कोई साधारण निर्णय नहीं है। लेकिन अगर तुम इतना करने को तैयार हो, तो मैं तुम्हारा कहना टाल नहीं सकता। सच बात कहता हूँ कि मुझे तुमसे इतनी भी आशा नहीं थी। इतना भी कुछ कम नहीं है। लेकिन तुम्हें बहुत कष्ट होगा।'

रजनी ने मानो बात अनसुनी करके कहा, 'एक बात समझ लो। मैं

साथ रहूँगी, और गूँगी-बहरी होकर रहूँगी। इतनी बात तुम्हारे फ़ायदे की है। लेकिन मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ, तुम्हारे आदर्शों में किसी प्रकार की सहायता नहीं करूँगी। मुझसे इस प्रकार की कोई आशा न रखो। कभी अगर तुम्हें अपने काम में मेरी मदद की आवश्यकता पड़ी और मैंने इन्कार कर दिया, तो यह न कहना कि मैंने धोखा दिया और निष्क्रिय पड़ी रही। यह शर्त मानते हो?'

प्रभाकर ने कुछ सोचकर कहा—'अच्छी बात है, मानता हूँ।'

'तो चलो।'

निर्णय कर चुकने के बाद रजनी ने किसी प्रकार की देरी नहीं की। एक घण्टे के अन्दर-अन्दर दोनों घर छोड़कर एक विराट् मशीन की ओर चल पड़े थे।...

आज ठायँ-ठायँ सुनकर उसे एकाएक इन बातों की याद आ गयी। उसने मन-ही-मन कहा, 'मैं कुछ भी करने को बाध्य नहीं हूँ। क्यों न यहीं बैठी रहूँ? मुझे क्या मतलब?'

इस निर्णय पर उसका गतिशील मन नहीं रुक सका। वह फिर सोचने लगी, 'अगर मैं पकड़ी गई तब क्या होगा?' उसकी कल्पना में अख़बारों की ख़बरें नाचने लगीं—अमृतसर में गोली चल गयी। एक क्रान्तिकारी बन्दी (या हत!)' 'वीर (या शायद वीरगति!) क्रान्तिकारी की पत्नी घर में गिरफ़्तार...'

रजनी ने धीरे से कहा, 'और अभी यहाँ पर एक रिवाल्वर और कई गोलियाँ पड़ी हैं!'

फिर वह सोचने लगी...

उसका घर एक छोटी-सी गली में था। पहली मंजिल की सीढ़ियों के दोनों ओर दो कमरे थे, और दूसरी मंजिल पर एक। सीढ़ियों पर एक दरवाज़ा नीचे था, एक पहली मंजिल पर; और दूसरी मंजिल पर छत की समतल पर ही लोहे की सीख़चों का एक दरवाज़ा था। छत में ही एक छोटा-सा चौकोर सुराख़ था, जिसमें झाँकने से सीढ़ियों के दोनों दर-वाज़े और सीढ़ियों से ऊपर आता हुआ कोई भी व्यक्ति दीख पड़ता था।

रजनी ये सब बातें एक ही तरंग में सोच गयी। फिर किसी अतर्क्य प्रेरणा से वह दूसरे कमरे में गयी और बक्स खोलकर टटोलने लगी। उसने रिवाल्वर निकाला और चुपचाप भर लिया। बाक़ी गोलियाँ निका-

लकर आँचल में डाल लीं। निचला दरवाज़ा वह पहले बन्द कर आयी थी। अब उसने पहली मंज़िल पर भी साँकल चढ़ा दी और दौड़कर छत पर चल गयी। वहाँ उसने लोहे का चौखट बन्द कर दिया और सुराख़ के पास रिवाल्वर लेकर बैठ गयी।

फिर एकाएक उसके मुँह से निकल गया, यह मैं क्या करने लगी हूँ?...

यह भाव बहुत देर नहीं रहा। क्षण-भर बाद ही उसने रिवाल्वर की नली सुराख़ से निकाल दी और चौकन्नी होकर बैठ गयी।

अभी दो मिनट भी नहीं बीते थे कि किसीने किवाड़ खटखटाया। रजनी और सँभलकर बैठ गयी और सुराख़ से नीचे देखने लगी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया, इसी प्रतीक्षा में बैठी रही कि पुलिसवाले किवाड़ तोड़ें या और कुछ आयोजन करें।

किवाड़ बड़े ज़ोर से खटखटाये जाने लगे। रजनी ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी नसें इतनी तन गयी थीं कि शायद वह उत्तर देना चाहती तो आवाज़ भी नहीं निकलती...

एकाएक रजनी चौंकी। यह तो पुलिसवालों का स्वर नहीं था—यह तो उसका चिर-परिचित स्वर था—

'कल्याणी, किवाड़ खोलो!'

रजनी उठकर नीचे उतरी तो उसकी टाँगें लड़खड़ा रही थीं...पर वह नीचे चली गयी। दाहिने हाथ में थामे हुए रिवाल्वर पीछे छिपाकर उसने किवाड़ खोला और बोली, 'आ गये?'

प्रभाकर ने देखा, उसकी आवाज भर्राई हुई है। उसने किवाड़ बन्द कर लिये और ऊपर आकर पूछा, 'क्या है रजनी, स्वर्ण-मन्दिर में तो खूब धूम है, आतिशबाज़ी छूट रही है। मैं तुम्हें नहीं ले जा सका, लेकिन मिठाइयाँ ले आया हूँ!'

रजनी ने विमूढ़-सी होकर प्रभाकर की ओर देखा, और बोली, 'आतिबाज़ी?' कहते-कहते उसने हाथ का रिवाल्वर भूमि पर बिछी हुई दरी पर रख दिया और स्वयं बैठ गयी।

प्रभाकर ने एकाएक उसके पास बैठकर स्नेह से पूछा, 'यह क्या है, रजनी?'

रजनी ने धीरे से अपना सिर प्रभाकर के कन्धे पर टेक लिया

और धीरे-धीरे रोने लगी।

प्रभाकर उसके सिर पर हाथ रखकर चुपचाप बैठा रहा।

'थोड़ी देर बाद जब रजनी उठ बैठी तो प्रभाकर ने पूछा, 'क्यों?'

रजनी बोली, 'दीवाली मनानी है। दिये जलाऊँगी।'

प्रभाकर ने कृतज्ञता-पूर्वक कोमलता से उसका हाथ दबाते हुए कहा, 'और मैं भी अपनी गृह-लक्ष्मी की पूजा करूँगा।'

गृह-त्याग

Let us rise up and part : no one will know.
Let us go reward as the great winds go
Full of blown sand and foam ; what help is here ?

—स्विनबर्न

'कितने भोले थे हम—जो सच्चे दिल से इस शिक्षा को अपनाकर सन्तुष्ट हो गये !' कहकर बूढ़े ने एक बहुत लम्बी साँस ली और उठ खड़ा हुआ। खड़े होकर एक बार उसने अपने चारों ओर देखा, फिर धीरे-धीरे खिड़की के पास जाकर चौखट पर बैठ गया, और घुटने पर ठोड़ी टेककर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा।

खिड़की के बाहर कोई बहुत सुन्दर दृश्य हो, यह बात नहीं थी। वह घर, जिसकी कोठरी में वृद्ध बैठा था, मद्रास नगर की एक बहुत छोटी, बहुत गन्दी गली में था, और उस कोठरी तक सूर्य का प्रकाश कभी नहीं आ पाता था...उस खिड़की के बाहर का दृश्य—एक तंग गली, जिसके दोनों ओर नालियाँ बह रही थीं, जिसमें छोटे-छोटे श्यामकाय बच्चे खेल रहे थे...इसके ऊपर एक पकौड़ी की दूकान थी, जिसमें एक तेल के कड़ाहे के पास बैठी एक बुढ़िया धीरे-धीरे कुछ गा रही थी...कभी-कभी वह रुककर कीच से लथपथ लड़कों को धमका देती थी, जिससे वे दूर भाग जाते थे और फिर नाली की कीच में कूद पड़ते थे...

बूढ़ा इसी दृश्य को देख रहा था—इसी दृश्य में किसी सुदूर प्रदेश की कल्पना किये बैठा था...और वह धीरे-धीरे गुनगुनाता जाता था, मानो तेल से उठते हुए धुएँ से बातचीत कर रहा हो।

कमरे में वृद्ध अकेला ही था—बहुत अकेला। इतना अधिक अकेला कि उसे अपने वहाँ होने का भी ज्ञान नहीं था—उसके मुख से शब्द बिना आयास के या नियन्त्रण के निकलते जान पड़ते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वयं उन्हें सुन नहीं रहा—न समझ ही रहा है...

'कितने भोले थे हम...इतने बड़े जीवन में हम एक इतनी बात भी नहीं जान पाये कि स्वत्व क्या...हमारे लिए वह एक सैद्धान्तिक चीज़

थी, हम उसकी परिभाषा कर सकते थे...किन्तु हमने उसका उपभोग कभी नहीं किया, न हमें उसकी कुछ अनुभूति ही है...

'कारखाने के निर्दय कार्य-क्रम से समय बचाकर हमने किताबें माँग-माँग कर पढ़ना शुरू किया, तो क्या पढ़े ? वही हृदय को जलानेवाली शिक्षा—जिससे सिद्धान्त बचपन से ही हमारे वक्षस्थल पर अमिट अक्षरों में खुद गये थे। हम, जो जन्म के समय से वञ्चित, छलित, विवस्त्र, विवृत, विदग्ध थे, पढ़-लिखकर भी यही सीखे कि सम्पत्तिहीन होकर भी हमें शिकायत नहीं करनी चाहिए—क्योंकि जिन अधिकारों से हम वञ्चित रह गये, वे व्यक्तिगत होने ही नहीं चाहिए,—वे समाज में ही अभिहित होने चाहिए...अभी तक हम बाध्य होकर निर्धन और वञ्चित थे, अब हमें शिक्षा मिली कि इस दशा में रहना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है !...

बूढ़ा कुछ देर रुक गया, फिर एकाएक बोला, कितने भोले थे हम !...

इसी समय खिड़की के नीचे कुछ कोलाहल हुआ, पकौड़ीवाली बुढ़िया का कर्कश स्वर सुन पड़ा, फिर एक लड़के के रोने की चीख़...

'बुढ़िया ने मेरा खिलौना तोड़ दिया !'

वृद्ध एकाएक चौंका। उसने खिड़की के बाहर झाँककर पुकारा, 'आ बेटा, मैं तुझे दूसरा दूँगा !'

लेकिन वह लड़का रोता हुआ भाग गया था।

बूढ़े की बात सुनकर पकौड़ीवाली बुढ़िया चिल्लाकर बोली, 'अरे कौन है यह खिलौनवा ? छोकरों को और बिगाड़ रहा है ! खिलौना देने चला है—पहले अपने मुँह के दाँत तो गिन ले !'

गली में खड़े हुए सब लड़के, जो अब तक सशंक दृष्टि से बुढ़िया की ओर देख रहे थे, उसकी इस बात पर खिलखिलाकर हँस पड़े।

वृद्ध ने उठकर खिड़की बन्द कर दी और अन्धकार में एक बड़ी लम्बी साँस ली।

फिर उसने दियासलाई से एक बहुत छोटा-सा दीपक जलाया और एक ओर आले में रखकर उसके समाने खड़ा हो गया। उसकी ओर देखता हुआ बोला, 'क्यों रे, कल भी तुझे जलानेवाला कोई होगा या नहीं ?'

क्षणभर वृद्ध ने अपने-आप ही सिर हिलाया और 'तुझमें स्नेह नहीं है !' कहकर वहाँ से चला। एक कोने से एक मिट्टी का घड़ा और एक

पीतल का कमण्डल लेकर वह कोठरी से बाहर निकल पड़ा।

सीढ़ियों से उतरकर वह एक छोटे-से आँगन में पहुँचा। यहाँ पर नल के नीचे उसने घड़ा रख दिया और स्वयं पास के चबूतरे पर बैठकर पानी की बहुत पतली धार की ओर देखने लगा।

घड़े में पड़ते हुए पानी की 'घहर-घहर-घर !' सुनते-सुनते उसे अपना तिरस्कार भूल गया और उसके मुख पर का खिंचाव कुछ ढीला हो गया।

उसके विचारों की तरंग फिर बहने लगी...'हमने अपने घोर नारकीय गत जीवन का कुछ भी प्रतीकार नहीं किया ! प्रतिवाद तक नहीं ! प्रबुद्ध होकर भी हमने कोई चेष्टा नहीं की कि जिन वस्तुओं से हम सदा वञ्चित रहे, उन्हें अब स्वयं प्राप्त करें, या दूसरों को ही दिलायें...उल्टे हम स्वयं इसी सिद्धान्त का प्रचार करने लगे कि किसी व्यक्ति का किसी वस्तु पर कोई स्वत्वाधिकार नहीं है, सभी कुछ संघ का और समाज का है...

'किन्तु हमारा सिद्धान्त मिथ्या थोड़े ही था ? हमारा मन कभी-कभी हमारी कठोर यन्त्रणा से निकलकर अदम्य और उद्दण्ड भाव से स्वत्व-कामना करने लगता है, एक स्वत्व-विशेष का—लेकिन इस आन्तरिक प्रेरणा का प्रज्वलन विवेक-बुद्धि की शीतलता को मिथ्या नहीं सिद्ध करता... शायद वह प्रेरणा बिलकुल मरीचिका—'

बूढ़ा फिर एकाएक रुक गया, क्योंकि एक छोटी-सी, कोई सात-आठ वर्ष की बालिका, उसके घड़े के पास आकर खड़ी हो गई थी, और अपनी हथेली नल पर रखकर पानी इधर-उधर छिटका रही थी। बूढ़े ने उसे देखकर कहा, 'छोटी, घड़ा भर लेने दे। फिर मैं ही पानी उड़ाकर दिखाऊँगा।'

वह बालिका नल से हटकर बूढ़े के पास आकर खड़ी हो गई। बोली, 'बूढ़े बाबा, तुम्हारा ही नाम गंगाधर है ?'

'हाँ, क्यों ?'

'ऐसे ही। पिताजी कुछ बात कर रहे थे।'

वृद्ध ने बालिका का हाथ थामते हुए पूछा, 'क्या ?'

बालिका उसके और पास चली आई और बोली, 'बाबा, तुम हमारा घर छोड़कर चले जाओगे ?'

वृद्ध ने प्रश्न से समझ लिया बालिका गृहस्वामी की लड़की है। उसने उसका नाम बहुत बार पुकारा जाता सुना था, किन्तु उसे देखा कभी नहीं

था ! उसने कुछ देर चुप रहकर कहा, 'हाँ मुझे जाना ही पड़ेगा। कल चला जाऊँगा।'

'क्यों गंगाधर, तुम्हें हमारा घर अच्छा नहीं लगा ?'

वृद्ध ने एकाएक जवाब नहीं दिया। फिर टालते हुए बोला, 'देखो, तुम्हारी शकल से तुम्हारा नाम बता सकता हूँ। तुम्हारा नाम कनकवल्ली है—क्यों ठीक है न ?'

बालिका हँसकर बोली, 'उँह, पिता से सुन लिया होगा !' फिर एकाएक गम्भीर होकर कहने लगी, 'तुमने बताया नहीं, तुम्हें हमारा घर अच्छा नहीं लगता ?'

वृद्ध ने उदास होकर कहा, 'बहुत अच्छा लगता है।'

'नहीं, तुम मुँह बनाकर कह रहे हो। तुम्हें अच्छा नहीं लगता।' बालिका ने कहा।

वृद्ध ने बालिका का मन रखने के लिए कहा 'नहीं, नहीं। मैंने मुँह इसलिए बनाया है कि मुझे यह घर छोड़कर जाना पड़ेगा ! मैं जाना नहीं चाहता।'

'तो फिर क्यों जाते हो ? यहीं रहो न ?'

वृद्ध ने फिर थोड़ी देर चुप रहकर कहा, 'कनक, मेरे पास किराया देने को पैसे नहीं हैं, इसीलिए जाना पड़ेगा।'

बालिका थोड़ी देर गम्भीर मुद्रा से उसकी ओर देखती रही, फिर बोली, 'तुम यहीं बैठे रहना, मैं अभी आती हूँ।'

'अच्छा।'

'कहीं जाना मत !' कहकर बालिका भाग गई।

थोड़ी देर बाद वृद्ध ने देखा, वह लौटी आ रही है। उसकी दोनों बाहों पर, पीठ पर, हाथों में, सिर पर, कई तरह के बाँस और लकड़ी के खिलौने लदे हुए थे। वृद्ध उसको देखकर मुस्कराने लगा।

वह पास आकर बोली, 'ये देखो, मेरे खिलौने !'

वृद्ध ने बहुत धीमे स्वर में पूछा, 'ये क्यों ले आई ?'

बालिका ने कुछ अप्रतिभ होकर पूछा, 'क्यों तुम्हें अच्छे नहीं लगे ?'

वृद्ध बालिका को अपनी ओर खींचते हुए बोला, 'कनक, ये खिलौने मेरे ही बनाये हुए हैं !'

कनक ने बड़े विस्मय और अविश्वास के स्वर में कहा, 'सच ?'

फिर आप-ही-आप बोली, 'जानते हो, मैं ये सब क्यों लाई हूँ ?'

वृद्ध कुछ नहीं बोला, चुपचाप उसकी ओर देखता रहा।

'इन्हें बेच डालो। फिर उन पैसों से घर का किराया दे देना।'कहकर कनक ने सब खिलौना गंगाधर के पैरों में डाल दिये।

गंगाधर की आँखों में आँसू भर आये...उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा, 'कनक, ये उठाकर ले जाओ।'

कनक रुआंसी हो गई और गंगाधर के मुख की ओर देखती रही।

वृद्ध ने यह देखकर फिर स्नेह के स्वर में कहा, 'कनक, ये रख आओ, फिर मैं तुम्हें एक चीज़ दिखा दूँगा। बड़ी अच्छी चीज़ है !'

कनक ने धीरे-धीरे खिलौने उठाये और चली गई। वृद्ध गंगाधर उठा, और घड़े को हटाकर कमण्डल भरने लगा। जब वह भी भर गया, तब वह दोनों को चबूतरे पर रखकर कनक की प्रतीक्षा करने लगा।

कनक आई, तो आते ही बोली, 'क्या दिखाओगे ?'

गंगाधर बोला, 'मेरे साथ आओ।' और घड़ा तथा कमण्डल उठाकर अपने कमरे की ओर चला। कनक बोली, 'कमण्डल मुझे दे दो, मैं ले चलती हूँ !' और वृद्ध से कमण्डल लेकर उसके पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। कभी उसके हाथ से पानी छलक जाता, तो हँस पड़ती।

गंगाधर ने कमरे में पहुँचकर घड़ा यथास्थान रख दिया। कनक ने कमण्डल भी उसके पास रख दिया।

गंगाधर बोला, 'आओ देखो।' कहकर दिया उठाकर कमरे के एक कोने में गया। सामने चादर से ढका हुआ एक बड़ा-सा ढेर था। उसने चादर उठा ली और फिर बोला, 'यह देखो, कनक !'

कनक ने देखा उस ढेर में बाँस के और लकड़ी के पचासों खिलौने रखे हुए थे—हाथी, घोड़े, बन्दर, हाथ-पैर हिलानेवाले आदमी, गाड़ियाँ, पक्षी...वह थोड़ी देर के लिए स्तम्भित हो गई। फिर बोली, 'इतने खिलौने !'

गंगाधर हँस पड़ा। बालिका ने पूछा, 'तो फिर इन्हें क्यों नहीं बेच देते ?'

वृद्ध बोला, 'आजकल लोग विदेशी खिलौने ही मोल लेते हैं, इनकी बिक्री ही नहीं होती। इसीलिए मैंने बनाना बन्द कर दिया है, और अब घर छोड़ रहा हूँ।'

'वे सब तुमने बनाये हैं ?'

'सब !'

'तुमने सीखा कहाँ ? मुझे भी सिखा दो ! कैसे अच्छे खिलौने हैं !'

गंगाधर उदास भाव से बोला, 'हाँ, बुरे नहीं थे।'

बालिका का मन किसी दिशा में चला गया था ! उसने पूछा, 'गंगाधर, तुम बहुत दिन से हमारे घर में रहते थे ?'

'हाँ, मुझे पच्चीस साल हो गये हैं।'

'अरे, तब तो मैं थी ही नहीं। तब तुम्हें घर अच्छा लगता था ?' गंगाधर उसके इस भोले अहंकार पर हँस पड़ा।

'तुम तबसे ही खिलौने बनाते थे ?'

'नहीं। पहले मैं लड़कों को पढ़ाया करता था। फिर—'

'लड़कों को पढ़ाने से तो यह काम अच्छा है न ? मैं तो यही करूँ।' गंगाधर ने एक लम्बी साँस ली और चुप हो गया।

'गंगाधर, तुम तो रोने लगे ?'

'नहीं, मैं एक बात याद कर रहा था। सुनो, तुम्हें अपनी कहानी सुनाऊँ ? बहुत अजीब है, लेकिन तुम्हें सारी समझ में नहीं आयेगी।'

'क्यों नहीं। माँ जब कहानी कहती है, तो मैं सब समझ लेती हूँ !'

बिना किसी प्रेरणा के दोनों फिर खिड़की के चौखटे पर बैठ गये और गंगाधर खिड़की खोलते हुए बोला—'तो सुनो।'

गंगाधर धीरे-धीरे, बिना बालिका की ओर देखे, अपनी कहानी कहने लगा। पच्चीस वर्षों में उसे तामिल भाषा का बहुत ज्ञान हो गया था और लड़की से उसने सब बात-चीत तामिल में ही की थी। अब वह अपनी कहानी भी तामिल में ही कह रहा था। किन्तु बीच में कभी-कभी जब आवेश में आ जाता, तब तामिल छोड़कर एकाएक हिन्दी बोलने लगता था—और कितनी परिष्कृत, परिमार्जित हिन्दी ! फिर एकाएक चौंककर पूछता, 'कनक, तुम क्या समझी।' और उसके एकाग्र भाव को देखकर हँस पड़ता था। इसके बाद कथाक्रम पुनः चल पड़ता...

'मैं जब बहुत बच्चा था, तब कानपुर में रहता था। वहाँ एक मिल में मेरे पिता कुली का काम करते थे, और मैं जब आठ साल का हुआ, तब मुझे भी उसी मिल में लगा दिया गया। मैं सुबह से शाम तक—दस-दस घण्टे लगातार सूत के गोले बनाया करता था...घुमाते-घुमाते हाथ थक जाते थे, पेशियाँ जड़ हो जाती थीं, पर फिर भी हाथ मशीन की तरह

चलते जाते थे...शाम को जब छुट्टी मिलती, तब मैं इतना थका हुआ होता था कि उठकर घर भी नहीं जा सकता था। पिता आते और उठाकर ले जाते थे। वे ख़ुद इतने थके होते थे कि मैं अपने को उनकी गोद में देखकर लज्जित हो जाता था...पर करता क्या?'

गंगाधर ने कनक की ओर देखा। वह सहज सहानुभूति से बोली, 'तो क्या दिन-भर में खेलना नहीं मिलता था? खिलौने—'

गंगाधर एक विषाद-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कहने लगा, 'वह भी कहता हूँ, सुनती जाओ।'

'हमें प्रातःकाल छः बजे ही मिल पर चले जाना पड़ता था, इसलिए सबेरे तो कुछ खेलना मिलता ही नहीं था। शाम को छः बजे के करीब मैं घर पहुँचता, तो थोड़ी देर तो फटी हुई चटाई पर लेट रहता था। भूख लगती थी तो इतना भी नहीं होता था कि रोकर रोटी माँग लूँ—चुपचाप पड़ा हुआ गली हुई छत की ओर देखा करता था कि बरसात में पानी से बचने के लिए कहाँ सोऊँगा...लेकिन जब सात बजने को होते थे, तब नीचे गली में बहुत-से लड़कों का क्रीड़ारव सुनकर मुझसे नहीं रहा जाता था, अपने थके-माँदे शरीर को किसी प्रकार मैं गली में ले जाता और उन लड़कों के खेलों में अपने को भुला देने का प्रयत्न करता था...

'हमारे पास कोई खिलौने नहीं थे, कोई भी चीज़ ऐसी नहीं थी जिसे हम अपना कह सकते। जब हमारा भाग्य बहुत ही अच्छा होता था, और आधे दिन की छुट्टी मिल जाती, तब हम सड़कों के किनारे की घास में लोटकर, नदी के किनारे की रेत में घर बनाकर और आपस में लड़कर ही अपना मनोरञ्जन कर लेते थे और जब ऐसा सुयोग नहीं मिलता था, तब...सड़कों की धूल में लोटकर, कूड़े के ढेरों में से सिगरेट की डिबिया निकालकर, किताबों की दूकानों के बाहर से फटे-पुराने अख़बारों के चित्रों का संकलन करके ही हम अपनी आत्मा की भूख मिटाया करते थे!'

वृद्ध ने एक बार कनक की ओर ध्यान से देखा और फिर कहने लगा, 'और जो चीज़ सबको मिल जाती है, अपने आत्मीयों का प्रेम—मुझे वह भी नहीं मिला। पिता को काम से ही छुट्टी नहीं मिलती थी, और माता मुझे बोध होने के पहले ही मर गई थी...कनक, तुम्हारे माता है न?'

कनक ने कहा, 'माँ मुझे बहुत प्यार करती है!'

गंगाधर ने यह सुना या नहीं, इसमें सन्देह है। उसका ध्यान बहुत

दूर कहीं चला गया था। वह तामिल को छोड़कर हिन्दी में ही गुनगुनाने लग गया था।

शायद अपनी बाल्यकालीन स्थिति के कारण, अपनी शिक्षा के दोष—या गुण ?—के कारण, मेरी दशा बाद में ऐसी हो गई...संघ-स्वत्व का प्रचार करते-करते कभी मानो पैरों के तले से धरती खिसक जाती है, अपने सब तर्क भूल जाते हैं, अपना आत्म-विश्वास-जनित सन्तोष नष्ट हो जाता है, संसार सूना हो जाता है—केवल एक विराट् आशंका से, एक भैरव अशान्ति से, एक उद्भ्रान्त कामना से आकाश व्याप्त हो उठता है—जिन मनश्चेष्टाओं को हम अब तक छिपाते आ रहे हैं, वे एकाएक प्रलयंकर वेग से सामने आती हैं, एक ही आकांक्षा—स्वत्वेच्छा—कि इस विशाल विश्व में कम-से-कम एक वस्तु तो ऐसी हो जिस पर हमारा एकान्त स्वत्व हो, जिसे हम अपनी कह सकें...हमारे निरीह, निःस्नेह, नीरव हृदयों में कभी-कभी जो उथल-पुथल मच जाती है,...कनक, तुम क्या समझी ?'

कनक हँसकर बोली, 'तुम बोल रहे थे, तो तुम्हारे मुँह पर दिये का प्रकाश बहुत काँपता मालूम होता था, मैं वही देख रही थी। अब कहानी नहीं सुनाओगे ?'

'मैं क्या कह रहा था ? हाँ, कि हमारे पास खिलौने नहीं थे। जब मैं तेरह साल का हुआ, तब मेरे पिता मर गये। उसके बाद—'

कनक ने गंगाधर के घुटने पर हाथ रखकर कहा, 'गंगाधर, तुम तो बहुत रोये होगे ?'

'नहीं, रोने को समय नहीं मिला। मेरे पास पैसे नहीं थे, पाँच आने रोजी मिलती थी। जब पिता मर गये तब मैंने वह काम छोड़कर आदमी का काम शुरू किया। काम में हाथ-पैर टूटने लगते थे, पर पैसे ज्यादह मिलते थे—दस आने रोज। मेरी एक बहिन भी थी, मुझसे सालभर छोटी। उसे भी अब मिल में काम करना पड़ा—उसे चार आने रोज मिलते थे। पर वह उसी साल हैजे से मर गई, मैं अकेला रह गया।'

कनक ने क्षणभर के लिए अपना चिबुक गंगाधर के घुटने पर रख दिया। वृद्ध फिर कहने लगा—

''मैंने फिर वह घर भी छोड़ दिया जिसमें रहता था। उसके बाद मिल के बाहर ही कहीं छप्पर में सो रहता था, और दिन-भर में पेट

भरने के लिए दो आने भर ख़र्च करता था। बाक़ी पैसे बचा बचाकर मैं एक शिल्प-शाला में भरती हुआ, और दो साल तक काम सीखता रहा। फिर मैंने मिल की नौकरी छोड़ दी और उसी स्कूल में नौकर हुआ। यहीं मैंने पढ़ाई की और बढ़ती भी पाई...इसी तरह मैं कालेज में भरती हुआ और बी. ए. भी पास कर लिया।"

"बी. ए. क्या चौदहवीं जमात को ही कहते हैं न ?"

गंगाधर हँसकर बोला, "हाँ।"

"मैं तो अभी दूसरी में ही पढ़ती हूँ!"

गंगाधर फिर हँसा और बोला, 'इस समय तक मेरे विचारों में बहुत बदली हो गई थी। मैं अब अमीरों से डरता नहीं था, उनसे घृणा करता था। मुझे विश्वास हो गया था कि अपने देश की सरकार से और अमीरों से लड़ाई किये बिना मुझ जैसे मजदूरों का कोई भला नहीं होगा। और मैं यह भी समझता था कि ग़रीबी का एक ही इलाज है कि सब पूँजी संघ को दे दी जाय—संघ जानती हो ?

"नहीं।"

मतलब यह था कि पूँजी पर, रुपए-पैसे पर, सबका बराबर-बराबर हक़ हो; एक आदमी दूसरे को भूखा मारकर अमीर न हो जाय। मैंने यह लड़ाई छेड़ने के लिए और भी आदमी इकट्ठे कर लिये, वे भी मेरी ही तरह विश्वास रखते थे और मेरी ही तरह ग़रीबी से उठे हुए थे।"

गंगाधर फिर हिन्दी में कहने लगा, "हमारी दीक्षा यही थी कि 'प्रत्येक को उनकी पात्रता के अनुसार मिले।' हमारा प्रयत्न भी यही था कि हरेक को यथोचित दें और हमें इस बात का अभिमान था कि हम अपने अधिकार से अधिक कुछ नहीं माँगते। अब अपनी इस कारातुल्य कोठरी की छोटी परिधि में, एक नीरस और निरानन्द शान्ति में मुझे यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि हममें एक बड़ी भारी त्रुटि थी—जीवन में एक स्थान पर आकर हम इस सिद्धान्त को भूल जाते थे...इस स्थान पर हमारे लिए यह असह्य होता था कि हममें किसीके भी द्वितीय हों—चाहे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही क्यों न हो। वहाँ पर हम सदा प्रथम होना चाहते हैं—या फिर होते ही नहीं—हमारा अस्तित्व ही मिट जाता है..." फिर एकाएक, तामिल में, "कनक, अगर तुम्हारे माता-पिता तुम्हें प्यार न करेंगे, कोई भी न करे, तो तुम क्या करो ?"

कनक ने प्रश्न पर विस्मित होकर कहा, "क्यों न करें, मैंने कोई बुरा काम किया है ?"

गंगाधर एक फीकी हँसी हँसकर बोला, "ठीक है। तुम्हारी कल्पना के बाहर की बात है।" फिर वह अपने अभ्यस्त साधारण स्वर में कहने लगा, दो साल ऐसे ही बीत गये। फिर एक दिन एकाएक मेरे सब साथी पकड़े गये—पुलिस को मालूम हो चुका था कि हम क्या करना चाहते हैं; और हममें से किसीने पता दे दिया था कि कौन-कौन आदमी हैं। अकेला मैं ही बचा रहा—और मैं भी एक स्थान पर नहीं रह सका, कभी बंगाल, कभी महाराष्ट्र, मैं सब जगह भागा फिरता था कि पुलिस मुझे भी न पकड़ ले। लेकिन कहीं कोई सहायक नहीं मिलता था, हर जगह झूठ बोलकर, धोखा देकर ही मैं अपने आपको रक्षित रख सकता था। बंगाल और महाराष्ट्र दोनों में ही मेरे सिद्धान्त के आदमी थे, पर वे मुझे जानते नहीं थे और बाहर के लोगों से डरते बचते थे। अगर कभी कोई आश्रय भी दे देता था, तो वैसे जैसे किसी बाजारू कुत्ते को कोई एक टुकड़ा डाल देता है......

"मैं बहुत दिनों से इसी बात का भूखा था, जो मुझे नहीं मिलती थी। मैं संसार से अलग होकर रहना नहीं चाहता था—क्यों चाहता ? अपना स्थान, जो मैंने इतने परिश्रम से प्राप्त किया था, क्यों छोड़ देता ? मैं उनमें से नहीं था जो वन्य फूल की तरह अज्ञात, अदृष्ट, नामहीन रहकर ही जीवन व्यतीत करने में सन्तुष्ट होते हैं—मैं और कुछ चाहता था... मैंने बहुत कुछ सहा था, स्नेह की कामना करते हुए भी उसके अभाव में प्रसन्न था, घृणा का सामना किया था, पर यह उपेक्षा मैं नहीं सह सका ! मैं संसार का प्रतिद्वन्द्वी होकर रह लेता, परित्यक्त होकर नहीं रहा जाता था ! कनक, तुम सुन रही हो न ?"

"हाँ, सुनती हूँ। पर जल्दी जल्दी कहो, नहीं तो पिता मारेंगे।"

'अच्छा ! सब ओर से धक्के खाते-खाते तंग आ गया। पर हताश नहीं हुआ। मेरे लिए तिरस्कार नई वस्तु नहीं थी—मेरी स्वाभाविक स्थिति ही यही थी कि मैं समाज की उपेक्षा का, घृणा का, तिरस्कार का पात्र रहूँ ! अगर कोई मुझसे स्नेह करता, तो वही अपवाद होता—अस्वाभाविक और स्थायी और भ्रान्तिमय !

'मैंने फिर यही निश्चय किया कि किसीसे कुछ आशा नहीं करूँगा,

अपने कार्य्य के अतिरिक्त किसीसे कोई सम्पर्क न रखूँगा। इसीलिए मैं पागलों की तरह अपने आपको अपने काम में खो देने का प्रयत्न करने लगा। मैं रोज यह प्रार्थना किया करता कि मुझमें इतनी शक्ति, इतनी दृढ़ता हो कि मैं समाज की, मैत्री की, स्नेह की कमी और आवश्यकता का कभी अनुभव न करूँ, प्रत्युत् उसकी उपेक्षा करता हुआ, उसकी ईर्ष्या का पात्र होकर चला जाऊँ!

'पर यह बात भी नहीं हो सकी। मेरा काम भी तो ऐसा ही था कि नित्य ही लोगों से मिलना पड़ता, उनसे आश्रय माँगना पड़ता, भिक्षा माँगनी पड़ती...मैं स्नेह नहीं माँगता था, तो भी यह अपने आपसे नहीं छिपा सकता था कि उसको पाने का अधिकारी होकर भी मैं वञ्चित हूँ।

'बहुत दिनों तक मैं भरसक प्रयत्न करता रहा, देखते हुए भी अन्धा बना रहा। फिर एक दिन एकाएक मेरी सहनशीलता टूट गई। किस कारण, यह नहीं कहूँगा। मैं एकाएक उठा, और जिस कोठरी में सोया था, उसका किवाड़ खोलकर बाहर निकल गया। बाहर वर्षा हो रही थी, उसकी ठण्ढी बूँदों से मेरा दिमाग़ कुछ स्थिर हुआ तो मैं सोचने लगा, कहाँ जाऊँ? संसार में ऐसा कोई नहीं था, जिसके पास जाकर मैं किसी अधिकार से कह सकता, 'मुझे स्थान दो!'

कनक अपनी बड़ी-बड़ी आँखें वृद्ध पर गड़ाकर बोली, 'क्यों, तुम्हारे कोई सखा नहीं थे?'

'मेरे सखा? मेरे मित्र? कनक, ग़रीब का दुनिया में कोई सखा नहीं होता...'

गंगाधर क्षणभर के लिए चुप हो गया, फिर कहने लगा।, 'पहले तो मेरे जी में आया, इन सबको चिढ़ाऊँ, गाली दूँ, मारूँ, इन सबका गला घोंट डालूँ, ताकि अगर वे मेरे प्रति स्नेह नहीं कर सकते तो मुझसे शत्रुता ही करें, इस प्रकार विस्मित होकर न रहा जाय! फिर उसी वक्त मैंने अनुभव किया, वह केवल जी की जलन है, इसके आगे झुकना नीचता होगी। इसलिए मैंने अपने आपको उस पुराने संसार से अलग कर देने का निश्चय कर लिया। सुन रही हो न, कनक?'

'हाँ, हाँ, फिर क्या हुआ?'

'फिर मैं यहाँ चला आया। इस बात को आज पचीस साल हो गये हैं। मेरा असली नाम अनन्त था, पर यहाँ आकर मैंने अपना नाम

गंगाधर रखा, और खिलौने बनाकर बेचने लगा। पहले मेरे खिलौने बहुत चलते थे, पर अब धीरे-धीरे उनकी क़द्र घट गई है। अब तो जिधर देखो विलायती मोटर-गाड़ियों, हवाई जहाज़ों और गुड़ियों की धूम है। इसीलिए मेरा यह हाल हो गया है।'

'पर मेरे पास तो ऐसे ही खिलौने हैं ?'

गंगाधर ने लम्बी साँस लेकर कहा, 'हरएक लड़की कनकवल्ली तो नहीं होती !'

कनक इस सीधी-सादी प्रशंसा से प्रसन्न हो गई। बोली, 'अगर मुझे पहले मालूम होता तो मैं और भी खिलौने ले लेती।'

वृद्ध हँस पड़ा। फिर कहने लगा, 'अब कहानी समाप्त करता हूँ, तुम घर चली जाना। अब मेरी यह दशा हो गई है कि मैं इस घर का किराया भी नहीं दे सकता। इसीलिए अब छोड़कर जा रहा हूँ।'

'कहाँ जाओगे ?'

'पता नहीं।'

'क्या करोगे ?'

'पता नहीं।'

'फिर वापस आओगे ?'

'पता नहीं।'

बालिका हँसने लगी। बोली, 'कुछ पता भी है ?'

गंगाधर फिर हिन्दी में बातें करने लगा। 'चला तो जाऊँगा, पर वह भूख कहाँ मिटेगी ? अब मैं बूढ़ा हो गया, अब बदलना मेरे लिए सम्भव नहीं है। और फिर मेरी भूख तो नहीं है, लाखों वर्षों की संस्कृति और मनश्चालन से उत्पन्न एक प्रवृत्ति है। पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव हुए करोड़ों वर्ष हो गये, और इन करोड़ों वर्षों से बिना किसी बाधा के हमारे हृदयों में व्यक्तिगत स्वत्व का भाव जाग्रत् रखा गया है। और उससे भी पूर्व जब हमारे पुरखों ने अभी मनुष्यता नहीं प्राप्त की थी, तब भी यह स्वत्व-भाव पशुओं में था...इन असंख्य वर्षों से जो भाव हमारे मन में घर किये हैं, जिसकी रूढ़ि असंख्य वर्षों से हमारे मन को बाँधे हुए हैं, उसे विवेक के एक क्षण में, एक दिन में, एक वर्ष में—एक समूचे जीवन में भी समूल उखाड़ फेंकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। विवेक द्वारा

स्वत्व-भाव को दबाकर भी हम इस अस्फुट आकांक्षा के विद्रोह को नहीं दबा सकते...'

बालिका इतनी देर से चुप बैठी थी। अब बोली, 'गंगाधर!'

'क्या है, कनक? मेरी बात नहीं समझी? मैं बीच-बीच में अपनी भाषा बोलने लग जाता हूँ।'

'एक बात कहूँ—मानोगे?'

'कहो?'

'हमारा घर छोड़कर मत जाओ।'

'क्यों? और फिर रहूँ कैसे?'

'मैं पिताजी से कहूँगी, वे किराया कम कर लें, या न ही लें। तुम खिलौने बनाया करना और बेचा करना। मैं भी मदद करूँगी। बोलो, रहोगे न?'

गंगाधर उसके इस आग्रह का सहसा कोई उत्तर न दे सका। उसने मुँह खिड़की से बाहर कर लिया, ताकि कनक उसकी आँखों के आँसू न देख सके।

बहुत देर तक दोनों ऐसे ही चुप बैठे रहे।

फिर गंगाधर बोला, 'कनक, तुमने आज से पहले मुझे क्यों नहीं कहा? तब शायद...'

'आज से पहले मुझे कभी इधर आना ही नहीं मिला। आज जब पिताजी ने कहा कि तुम चले जाओगे, तब मैं तुम्हें देखने चली आई थी।'

'तुम मुझे क्यों रहने को कहती हो?'

'मुझे तुम्हारे खिलौने, तुम्हारी कहानियाँ और तुम बहुत अच्छे लगते हो।'

वृद्ध एक लम्बी साँस लेकर चुप रहा। थोड़ी देर बाद कनक ने फिर पूछा, 'गंगाधर, रहोगे न?' कहकर वह अपना कपोल धीरे-धीरे वृद्ध के घुटने पर मलने लगी।

गंगाधर का हृदय द्रवित हो गया। वह बोला, 'कनक, पता नहीं अब रह सकूँगा कि नहीं...पर तुम इतना कहती हो, तो यत्न करूँगा...

'नहीं, ऐसे नहीं। वायदा करो, नहीं जाओगे।'

वृद्ध चुप रहा। कनक फिर बोली, 'मेरी बात नहीं मानोगे? कह दो, नहीं जाओगे!'

'अच्छा, जैसे तुम कहो।'

'नहीं, कहो, वायदा करता हूँ, नहीं जाऊँगा। लो, अब तुम दौड़कर घर चली जाओ; बहुत देर हो गई है।'

'अच्छा, कल फिर आऊँगी। तुम जाना मत।' कहकर बालिका भाग गई।

गंगाधर खिड़की के चौखट पर सिर रखकर बैठ गया, उसका दुबला शरीर अन्तर्दाह से हिलने लगा। इसी समय उसने दूर पर एक स्त्री का क्रुद्ध स्वर सुना, 'क्यों री, चुड़ैल, कहाँ गई थी?' और उसके बाद ही कनक के रोने की आवाज़...

वह एकाएक उठकर दीपक के पास आकर खड़ा हो गया। बोला, 'मैं किस विडम्बना में अपने-आपको भुला रहा हूँ। पचास वर्ष तक जो नहीं मिल सका, उसके मोह में आज भी पागल हो रहा हूँ! और आज भी, वह कहाँ मिला है? एक बच्चे का अस्थायी चापल्य...अगर कल वह चली गई, या विमुख हो गई, या भूल ही गई, तो?' गंगाधर, तुम पागल हो गये हो। तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी नस-नस में, जो जीवन की तीक्ष्णता नाच रही है, उसको तुम एक सामान्य और क्षणभंगुर आनन्द में कैसे भुला दोगे? तुम्हें चाहिए एक अशान्तिमय उपद्रव—या कुछ नहीं! हटाओ इस मोह-जाल को!

गंगाधर ने एक बहुत लम्बी साँस लेकर चारों ओर देखा। फिर एक काग़ज़ के टुकड़े पर पेंसिल से तामिल अक्षरों में लिखा, 'मेरे सब खिलौने कनकवल्ली के लिए हैं।' और उस खिलौनों के ढेर पर रख दिया। फिर किवाड़ से बाहर एक बार सीढ़ियों की ओर झाँककर देखा, फिर वापस आकर दिये के सामने खड़ा हो गया।

गंगाधर एक क्षण दिये की ओर देखता रहा, फिर फूँक से उसे भी बुझाकर टूटे हुए स्वर में बोला, 'अब आगे अँधेरा है, अनन्त!'

कैसेंड्रा* का अभिशाप

प्यासे खजूर के वृक्षों की छोटी-सी छाया उस कड़ाके की धूप में मानो सिकुड़कर अपने-आपमें, या पेड़ के पैरों-तले छिपी जा रही है। अपनी उत्तप्त साँस से छटपटाते हुए वातावरण में दो-चार केना के फूलों की आभा एक तरलता, एक चिकनेपन का भ्रम उत्पन्न कर रही है, यद्यपि है सब ओर सूनापन, प्यासापन, रुखाई....

उन केना के फूलों के पास ही, एक छींट के टुकड़े से अपने कंधे ढके हुए, मेरिया बैठी है। उससे कुछ ही दूर भूमि पर एक अख़बार बिछाये उसकी छोटी बहन कार्मेन एक रुमाल काढ़ रही है। वे दोनों अपने-अपने ध्यान में मस्त हैं, किन्तु उनके ध्यान एक ही विषय के दो विभिन्न दृष्टियों से देख रही हैं....यद्यपि वे स्वयं इस बात को नहीं जानतीं कि उनके विचार एक दूसरे के कितने पास मँड़रा रहे हैं—यद्यपि मेरिया उसे कभी स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि वह इसे अपने हृदय का गुप्ततम रहस्य समझती है...

कार्मेन की आँखें उसके हाथ की रुमाल पर लगी हुई हैं। वह उस पर लाल धागे से एक नाम काढ़ रही है, जो मेंहदी के रंग से उस पर लिखा हुआ है—मिगेल! नाम के चारों ओर एक बेल काढ़ी जा चुकी है और बेल के ऊपर एक लाल झंडा।

मेरिया अपने पास की किसी चीज़ को अपने चर्म-चक्षुओं से भी नहीं देख रही है। केना के फूलों के आगे जो खजूर के दो-चार झुरमुट-से हैं, उनके आगे जो छोटे-छोटे नये गन्ने के खेत हैं, उनके भी पार कहीं जो स्पष्ट किंतु अदृश्य सत्यताएँ हैं, उन्हीं पर उसकी आँखें गड़ी हैं...

---

* एपोलो के वरदान से कैसेंड्रा को भवितव्यदर्शिता प्राप्त हुई थी, किन्तु उसकी प्रणय-भिक्षा को ठुकराने पर एपोलो ने उसे शाप दिया कि उसकी भविष्य-वाणी पर कोई विश्वास नहीं करेगा। ट्रोजन-युद्ध के समय, और उसके बाद एगेमेम्नन की स्त्री बनकर, भावी घोर दुर्घटनाओं को देखकर वह चेतावनी देती रही, किन्तु ट्रायवालों ने उसे पागल समझकर बंद कर रखा और एगेमेम्नन ने भी उसकी उपेक्षा की। कैसेंड्रा का अभिशाप यही है कि वह भविष्य देखेगी और कहेगी, किंतु कोई उसका विश्वास नहीं करेगा—ले०।

वहाँ है तो बहुत कुछ। वहाँ मार-काट है, हत्या है, भूख है, प्यास है, विद्रोह है, पर मेरिया उसे देख ही नहीं रही है। वह तो वहाँ एक स्वप्न की छाया देख रही है। एक स्वप्न, जो टूट चुका है, किंतु बिखरा नहीं; जो बद्ध हो चुका है, किंतु मरा नहीं है....

वह मिगेल को याद कर रही है; मिगेल, जो जेल में बैठा है; मिगेल, जो...

पर क्या मन को उलझाने के लिए कोई स्पष्ट विचार आवश्यक ही है? क्या कवि कविता लिखने से पहले उसे लिखने के विचार में और उसके अनुकूल झुकाव में ही इतना तल्लीन नहीं हो सकता कि कविता की अभिव्यक्ति एक अकिंचन, आकस्मिक, द्वैतीयिक वस्तु हो जाय? तभी तो मेरिया भी उसकी याद में तल्लीन हो रही है, उसे याद ही नहीं कर रही है, उसे याद करने की अवस्था में ही ऐसी खो गई है कि वह याद सामने नहीं आती...

मेरिया और कार्मेन साधारणतया इस समय घर से बाहर नहीं बैठतीं। एक तो धूप-गर्मी, दूसरे विद्रोह के दिन, तीसरे घर का काम और सबसे बड़ी, सबसे भयंकर बात यह कि उन दिनों में वेश्याएँ ही दिन-दहाड़े बाहर निकलती हैं या वह कुलवधुएँ, जो भूख और दारिद्रय से पीड़ित होकर दिन में ही अपने आपको बेच रही हैं—चोरी से नहीं, धोखे से नहीं, धर्मध्वजियों की कामलिप्सा से नहीं, (इन सब सभ्यता के अलंकारों के लिए उन्हें कहाँ अवकाश?) किंतु केवल छः आने पैसे के लिए, जिसमें वे रोटी-भर खा सकें...। मेरिया विधवा है, कार्मेन अविवाहिता और दोनों ही अनाथिनी और दरिद्र, किंतु वे अभी...वे अभी वहाँ तक नहीं पहुँचीं, वे अभी घर में बैठकर अपने टूटते हुए अभिमान में लिपट-कर रो सकती हैं, इसलिए किसी हद तक स्वाधीन हैं...आज वे बाहर बैठी हैं तो इसलिए कि आस-पास आने-जानेवालों को देख सकें, और आवश्यकता पड़ने पर पुकार सकें, क्योंकि आज वे एक अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हैं...

दोनों ही उद्विग्न हैं, क्योंकि प्रतीक्षा का समय हो चुका है। पेड़ों की छाया अपना लघुतम रूप प्राप्त करके अब फिर हाथ-पैर फैलाने लगी है। शायद पेड़ों के चरणों में आसन पाने से निराश होकर उस प्राची दिशा की ओर बढ़ने लगी है, जिससे सूर्य का उदय हुआ था—शायद इस

भावना से कि जो सूर्य को काँख में दाबकर रख सकती है, वह क्या उसे आश्रय नहीं देगी? अतिथि के आने की बेला, बहुत देर हुए, हो चुकी है, पर मेरिया और कार्मेन दोनों अपने कामों, या कामों की निष्क्रियता में, ऐसी तन्मय दीख रही हैं कि दोनों ही एक दूसरे को धोखा नहीं दे पातीं और व्यक्त हो जाती हैं।

कार्मेन कहती है—"बहन, देखो तो, यह ठीक बन रहा है?...तुम सोच क्या रही हो?"

और, मेरिया बिना उसके प्रश्न का उत्तर दिये ही स्वयं पूछती है—"हाँ कार्मेन, तू तो कम्यूनिस्ट है न पक्की?"

"मैं जो हूँ सो हूँ, तुम यह बताओ कि तुम सोच क्या रही थीं?"

"मैं? मैं क्या सोचूँगी? तू ही तो अपने झण्डे में इतनी तल्लीन हो रही है कि कुछ बात नहीं करती।"

"मैं झण्डे में और तुम इस नाम में, क्यों न?"—कहकर कार्मेन शरारत से हँसती है।

"चुप शैतान!"—हँसकर मेरिया एकाएक गंभीर हो जाती है...

और कार्मेन भी चुप रहती है, कभी-कभी बीच-बीच में कनखियों से उसकी ओर देखकर कुछ कहने को होती है, पर कहती नहीं।

गन्नों के खेत के इधर एक व्यक्ति आता दीख रहा है। मेरिया स्थिर उत्कण्ठा से उसे देखने लगी है। कार्मेन ने उधर नहीं देखा, किंतु किसी अलौकिक बुद्धि से वह भी अनुभव कर रही है कि उसकी बहन व्यग्रता से कुछ देख रही है और वह भी एक तनी हुई प्रतीक्षा-सी में अपना काम कर रही है...

जब वह व्यक्ति पास आ गया, तो मेरिया ने उठकर हाथ से उसे इशारा किया और कार्मेन से बोली—"कार्मेन, तू भीतर जा। मैं बात करके आऊँगी।"

कार्मेन एक बार मानो कहने को हुई—"मैं भी रह जाऊँ? फिर उस वाक्य को एक चितवन में ही उलझाकर चली गई।"

"कहो, सेबेस्टिन, मिलने को क्यों कहला भेजा था?"

"तुम्हारे लिए समाचार लाया हूँ। कोई सुनता तो नहीं?"

"नहीं।"

"फिर भी, धीरे-धीरे कहूँ। मिगेल का समाचार है।"

मेरिया चुप। उसके चेहरे पर उत्कंठा भी नहीं दीखती।

"वह मैटांभास की जेल में है।"

"यह तो मैं भी जानती हूँ।"

सेबेस्टिन स्वर और भी धीमा करके बोला—"वह तो वहाँ से निकलकर अमरीका जाने का प्रबंध कर रहा है।"

मेरिया फिर चुप। पर, अब तो उत्कंठा नहीं छिपती!

"उसे धन की ज़रूरत है।"

"फिर ?"

सेबेस्टिन संदिग्ध स्वर में बोला—"यही मैं सोच रहा हूँ। मेरा जो हाल है, सो देखती हो—अभी तीन दिन से रोटी नहीं खाई और तुमसे भी कुछ कह नहीं सकता। और, और यहाँ कौन बच रहा है—सभी भूखे मर रहे हैं। मैं माँगू किससे ?'

मेरिया थोड़ी देर चुप रही। फिर बोली—'कितना धन चाहिए ?'

सेबेस्टिन ने एक बार तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर कहा—'क्या करोगी पूछकर बहुत !'

'फिर कितना ?'

'लाओगी कहाँ से ? अगर सौ डालर चाहिए तो ?'

'सौ चाहिए ?'

तनिक विस्मय से—'अगर दो सौ डालर चाहिए—तीन सौ ?'

'तीन सौ डालर चाहिए ?'

अब विस्मय को छिपाकर उदासीनता दिखाते हुए—'नहीं चाहिए तो इससे भी अधिक—कम-से-कम पाँच सौ डालर ख़र्च होंगे। बड़ी जोखिम का काम है...पर इन बातों से क्या लाभ ?—हो तो कुछ सकता ही नहीं...तुम पूछती क्यों हो ?'

मेरिया चुप है। उसके मुँह पर अनेक भाव आते हैं और जाते हैं। सेबेस्टिन उन्हें पढ़ नहीं पाता और सोचता है—'यह औरत बड़ी गहरी मालूम पड़ती है, मुझसे बहुत कुछ छिपाये हुए है, जिसका मैं अनुमान भी नहीं कर पाता'...

मेरिया एकाएक बोली, 'यहाँ कोई बैंकर है ? कोई अमरीकन ?'

'हाँ, है तो। क्यों ?'

'गिरवी रखेंगे ?'

'क्या ? शायद् कोई खरी चीज़ हो तो रख लें—पर आज-कल गिरवी से बेचना अच्छा, क्योंकि मिलेगा बहुत थोड़ा। पर क्या कुछ गिरवी रखना चाहती हो ? अभी तो तुम्हारा खर्च चलता होगा ?'

मेरिया ने उत्तर दिया, कुछ देर सोचने के बाद पूछा—'उसे निकालने में कितने दिन लगेंगे ?'

'दिन क्या ? सब प्रबन्ध तो है, धन भिजवाते ही वह निकल जायगा।'

'यहाँ से मैटांजास भिजवाओगे ?'

'प्रबन्ध करनेवाले यहीं हैं। उन्हींको देना होगा। उसके पास धन पहुँचते ही वह कर लेंगे, ऐसा मुझसे कहा है।' सेबेस्टिन ने एक दबी हुई अनिच्छा-सी से कहा, मानो अधिक रहस्य खोलना न चाहता हो !

'हूँ।'

मेरिया फिर किसी सोच में पड़ गई। थोड़ी देर बाद उसने उतरे हुए चेहरे से फीके स्वर में कहा—'शायद मैं पाँच सौ डालर का प्रबन्ध कर सकूँ। तुम—रात को !'

'तुम ! पाँच सौ डालर !'

'हाँ ! मेरा विश्वास है कि कर सकूँगी ; पर निश्चय नहीं कह सकती—तुम रात को आना।'

'पर—'

'अभी जाओ, रात को आना। अभी बस, अभी बस ! मैं कुछ सोचना चाहती हूँ—मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है।' कहकर मेरिया मुड़कर घर की ओर चली।

'अच्छा, मैं जाता हूँ, बिदा !' कहकर सेबेस्टिन चलने लगा; किन्तु जब मेरिया अन्दर चली गई, तब वह रुककर, उसकी ओर देखकर बोला—'मेरिया, तुम्हारे पास इतना धन कैसे ? यह तो अँधेरे में तीर लग गया है।'

फिर, धीरे-धीरे उसके मुख पर विस्मय या आग्रह का भाव रह गया, उसका स्थान लिया एक लज्जा या विक्षोभ के भाव ने। पर जब सेबेस्टिन फिर गन्ने के खेत की ओर चला, तब वह भाव मिट गया था—तब वह था पहले-सा ही शान्तप्राय, किञ्चित् विस्मित....

खजूरों की लम्बी छाया, अब ठीक केना की क्यारी पर छा रही थी; मानो अनन्त पथ पर चलते हुए भी, उसके तरल चिकनेपन के भ्रम में पड़कर थोड़ी देर के लिए प्यासी छाया अपनी आँखें ही ठण्ढी कर रही हो...

२

अब वे दिन नहीं रहे, जब मेरिया की गिनती सैकड़ोंसे आरम्भ होती थी—वे भी नहीं, जब अकेली इकाई की इकाई समझने लगी थी`` अब तो, यदि डालर इकाई है तो उसकी गिनती सेण्ट से आरम्भ हो जाती है और सेण्ट ही में सम्पूर्ण हो जाती है। और वह देगी पाँच सौ डालर—अपनी गिनती की असंख्य सम्पत्ति !

मेरिया के माँ-बाप सेण्टियागो के पहाड़ी प्रदेश में बड़े ज़मींदार थे। यद्यपि उनकी समृद्धि को बीते वर्षों हुए जान पड़ते हैं, तथापि मेरिया को कभी-कभी यह विचार आता है, अभी कल ही तो वे दिन थे।

हवाना शहर के आसपास, देहात में, मेरिया के पिता की बहुत-सी ज़मीन थी—जिसमें गन्ने बोये जाते थे; किन्तु कुछ वर्षों से जब से अमरीका के चीनी के व्यापारियों और मज़दूरों तक ने क्यूबा से चीनी के आयात का विरोध किया और देशभक्ति की आड़ लेकर लड़ने को तत्पर हुए, जब से अमरीकन सरकार ने उनका मान रखने के लिए और अपनी छूँछी जातिभक्ति या देशभक्ति की शान रखने के लिए, क्यूबा से आनेवाली चीनी के आयात पर कर बढ़ा दिया, तब से धीरे-धीरे उनकी ज़मीन घटने लगी और उनका साहस भी टूटने लगा—मेरिया को वह दिन याद है (यद्यपि बहुत दूर से, ऐसे जैसे पिछले जीवन के सुख-दुख याद आ रहे हों !) जब उसके पिता ने आकर एक दिन थके हुए स्वर में मेरिया की माँ से कहा—'रोज़ा, हम लुट गये हैं—दीवालिया हो गये हैं....'

उस बात को दो वर्ष हो गये। उसके बाद ही वह दिन भी आया, जब सेण्टियागो में उनका मकान भी बिक गया और वह एक साधारण परिवार बनकर हवाना आये—मज़दूरी करने के लिए...। वह दिन भी, जब कि मेरिया का पिता एक दिन गन्ने के खेत की निराई करते-करते लू लगने से मर गया और उसके कुछ ही दिन बाद मेरिया की माँ भी—जो सब कष्ट और क्लेश सहकर भी अभिमान की चोट को नहीं सहार सकी थी।

तब से मेरिया और कार्मेन उस घरमें रहती हैं। वे दोनों मज़दूरी नहीं करतीं—अब मज़दूरी करने से उतना भी नहीं मिलता, जितने के उसमें नित्य कपड़े घिस जाते हैं—खाने की कौन कहे...इसलिए, मेरिया अब कभी-कभी किसी अमरीकन यात्री के यहाँ एक-आध दिन सेवा करके कुछ कमा लेती है और उसी पर तौबा कर लेती है। इस सेवामें, कभी-कभी

उसे अपने मन से छिपाना पड़ता है—तब, जब किसी यात्री को सूझता है कि मेरिया तो सुन्दरी है। तब मेरिया डरती नहीं, छिपती नहीं, सह लेती है और अपना वेतन कमा लेती है; क्योंकि नैतिक तंत्र तो काल और परिस्थिति के बनाये होते हैं और प्रत्येक काल में जैसे ऊँचाई की एक कमी-सी होती है, वैसे ही निचाई की भी। और मेरिया समझती है कि वर्तमान परिस्थिति में, वह कम-से-कम पतित नहीं है, जूठी नहीं है...

सीपी जब समुद्र में पड़ी होती है, तब उसकी गति अबाध होती है और वह अस्पृश्य; जब वह तीर पर पड़ी सूखती है, तब लोग उसके बाह्य आकार को छू लेते हैं. सुहला लेते हैं, पर उससे उसके अन्दर छिपा हुआ जीव आहत नहीं होता, वैसा ही अस्पृश्य रहता है। फिर एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब सूखे उत्ताप से छटपटाकर सीपी अपना बाह्य कठोर कवच खोल देती है, तब लोग उसके भीतर से मुक्तामणि लूट ले जाते हैं, तब उसका कवच कहीं पड़ा रहता है और उसके जीव को कौए नोंच ले जाते हैं।

मेरिया विधवा थी, पर पवित्र थी—अछूती थी। उसका विवाह उसके पिता ने अपने पड़ोसी के एक उच्चकुल के निकम्मे युवक से कर दिया था, जो विवाह के कुछ ही दिन बाद मर गया था। उसके बाद ही मेरिया के माता-पिता सकुटुम्ब हवाना आये और दोनों लड़कियों को छोड़ परलोक सिधारे थे—जहाँ शायद चीनी पर विदेशी कर नहीं लगता था। तब पहले कुछ दिन मेरिया ने मज़दूरी भी की थी, पर फिर यात्रियों की टहल करने लगी थी। यात्री उससे अधिक कुछ नहीं माँगते थे—अधिक-से-अधिक एक मुस्कान, हाथों का स्पर्श, एक कोमल सम्बोधन....इतने के लिए वह इन्कार नहीं करती थी, उपेक्षा से देती थी, और अपनी मज़दूरी ले जाती थी। इससे आगे उसके भी एक कठोर कवच था, तीर पड़ी सीपी की तरह, ; और वह सोचती थी कि उसका कौमार्य सदा ऐसा ही अक्षत रहेगा...

एक बार, ऐसा हुआ था कि वह इस रात को बदलने लगी थी—वह अपने को उत्सर्ग करने लगी थी। अपनी ओर से तो वह उत्सर्ग हो भी चुकी थी, शायद स्वीकृत भी, पर यदि ऐसा हुआ था, तो न वह उत्सर्ग-चेष्टा ही व्यक्त हुई थी और न उसकी स्वीकृति ही।

वह पिछले साल की बात है। तब मिगेल उसके पड़ोस में रहता था।

वह स्वयं गरीब था और मजदूरी करता था, किन्तु वह मेरिया के छिपे अभिमान को समझता था। कभी-कभी वह मेरिया की अनुपस्थिति में आता, कार्मेन से बातचीत करता और उसके लिए खाने-पीने का बहुत-सा सामान छोड़ जाता। कार्मेन स्वयं खाती, तो मिगेल कहता, 'रख लो, बहन के साथ खाना।' और कार्मेन इस उपदेश का औचित्य देखकर, इसे स्वीकार कर लेती। इसी प्रकार, मिगेल हर दूसरे दिन कुछ भेंट छोड़ जाता, जिससे दोनों बहनों का एक दिन का खर्च बच जाता...तब एक दिन मेरिया ने उसे मना करने के लिए उसका सामना किया था और तब से फिर सामना कर सकने के अयोग्य हो गई थी—बिक गई थी....

मेरिया मिगेल से बात बहुत कम करती। वह आता और कार्मेन से बातें करता, हँसता-खेलता और मेरिया उनकी तरुण माता की तरह ही उन्हें देखा करती···पर कई बार उसे विचार होता, मिगेल के कार्मेन के साथ खेलने में एक प्रेरणा है, उसकी बातचीत में एक आग्रह, उसकी हँसी में एक सहानुभूति, जो कार्मेन को दी जाकर भी उसकी ओर आती है, उसीके लिए है....तब वह लज्जित भी होती, पुलकित भी और एक विषण्ण आनंद से, और भी चुप हो जाती...और यह सब इसलिए कि उसकी अपनी सब प्रेरणाएँ, अपने सब आग्रह, अपनी सब सहानुभूतियाँ एक ही रहस्यपूर्ण अभिव्यक्ति में मिगेल की ओर जा चुकी थीं—

मिगेल में प्रतिभा थी और प्रतिभावान् व्यक्ति कभी एक स्थिर, व्यक्तिगत प्रेम नहीं पाता—चाहे अपने व्यक्ति-वैचित्र्य से उसका अनुभव करने के अयोग्य होता है, चाहे भाग्य द्वारा ही उससे वंचित होता है। मिगेल और मेरिया भी ऐसे ही रहे। मिगेल हवाना के एक गुप्त मजदूर-दल का अगुआ था—इस बात का पता लग जाने पर, उसके नाम वारंट निकल गये और वह भाग गया। इस बात को भी छः मास हो गये—और, अब तो मिगेलने महीने-भर से मैटांजास के फौजी जेल में पड़ा है। उसे पता नहीं क्या होगा—शायद बिना ट्रायल के ही वह फाँसी लटका दिया जायगा, क्योंकि अब है मेकाडो का राष्ट्रपतित्व, जो कि अमरीकन छत्रच्छाया से भी बुरा है, क्योंकि मेकाडो दास ही नहीं, वह अधिकार-प्राप्त दास है, इसलिए अधिकारी से अधिक क्रूर और हृदयहीन है...आज, अगस्त १९३३ में, एक तो प्रजा पहले ही भूखी मर रही है, तब उसमें बचे-खुचे जीविका के साधन भी छीने जा रहे हैं, और इतना ही नहीं, जो इस भूखी

मृत्यु का विरोध करते हैं, उन्हें सबसे पहले चुन-चुनकर मारा जा रहा है। हाँ, सभ्यता और प्रगति !

मेरिया ने मिगेल को अपनाया नहीं था, शायद इसीलिए मिगेल का एक चिह्न मेरिया के पास सदा रहता है—उसकी द्वादशवर्षीया बहन। मेरिया का प्रेम मौन था, कार्मेन का स्नेह अत्यंत मुखर, क्योंकि वह प्रेम नहीं था, वह था एक पूजामिश्रित अधिकार—वैसा ही, जैसा किसी बच्चे के मन में अपने देवता के प्रति होता है। कार्मेन हर समय मिगेल का नाम जपती थी; हरेक परिस्थिति में उसके मुख पर एक ही प्रश्न आता था कि 'इसमें मिगेल को कैसा लगता?' यहाँ तक कि जब वह रूखा-सूखा खाना खाने बैठती, तब सर्वोत्तम खाद्य वस्तु का (बहुधा तो एक ही वस्तु होती!) एक अंश निकालकर उसे एक अलग पात्र में रखकर पूर्वस्थ मैटांजास की ओर उन्मुख होकर कहती—'यह मिगेल के लिए है'''मेरिया हँसती—'पगली!' पर कार्मेन के कर्म से उसे ऐसा जान पड़ता है कि मिगेल की एक सकरुण साँस उसके पास से, उसकी किसी लट को किंचित्मात्र कंपित करती हुई, शायद उसके श्रुतिमूल को छूती हुई चली जाती है....वह जरा पीछे झुक जाती है—विश्रांति की मुद्रा में, क्षण-भर पलकें मीचकर एक छोटी-सी साँस लेती है, और फिर स्वस्थ हो जाती है, भोजन अधिक मधुर जान पड़ने लगता है और मेरिया को एकाएक ध्यान आता है कि कार्मेन उसकी कितनी अपनी, कितनी अत्यंत प्रिय है.... पता नहीं, वह कार्मेन का अधिकृत प्रेम है, या मेरिया के हृदय में मिगेल की अनुपस्थिति के रिक्त को पूरा करनेवाला और अंततः मिगेल पर आश्रित भाव; पर मेरिया उसे कार्मेन पर बिखेरती है, और बड़ी आत्म-विस्मृति से (या शायद आत्म-विस्मृति के लिए ही?) बिखेरती है...

कार्मेन इसे जानती है। वह छोटी है, अबोध है, अपने इष्टदेव की पूजा में, अपनी वीर-पूजा में खोई हुई है, पर मेरिया को जानती है। वह जानती है कि उसका देवता मेरिया का कुछ है और मेरिया सर्वथा उसकी, और उसे इससे द्वेष नहीं होता। प्रेम किसी-न-किसी प्रकार के प्रतिदान का इच्छुक होता है—चाहे वह प्रतिदान कितना ही वंचक और मारक क्यों न हो—इसीलिए प्रेम में ईर्ष्या होती है। पर पूजाभाव, विशेषतः वीर-पूजा, में प्रतिदान की इच्छा नहीं होती, इसीलिए उसमें विरोध की भावना भी नहीं होती। एक पुजारी अपने देवता के अन्य उपासकों से एक समीपत्व

ही अनुभव करता है और फिर कार्मेन यह भी तो समझती है कि वह स्वयं मेरिया की कितनी अपनी है. क्योंकि वह देखती है, मेरिया के जीवन का कोई भी रिक्त अगर भरा है तो कार्मेन से ही, मेरिया ने मानो अपने प्राण-सूत्र के सब तंतु सब ओर से समेटकर उसीमें लपेट दिए हैं और उसी-की आश्रित हो रही है...कार्मेन यह तो समझ सकती नहीं कि मेरिया की जीवन-लता कितनी अधिक उसके सहारे की आकांक्षी है, वह इसीलिए कि उसके भीतर कहीं घुन लग रहा है, जो उसकी शक्ति को चूसे जाता है और उसे बाह्य आश्रय के लिए बाध्य कर रहा है—कार्मेन समझती है कि मेरिया का उसके प्रति सच्चा स्नेह है और वह वास्तव में है भी सच्चा और विशुद्ध—किंतु वह स्वयं भूत नहीं है, वह एक रिक्त की प्रतिक्रिया है... जैसे, जब पैर में कहीं जूता चुभता है, तब उस चुभन से उस स्थान की रक्षा के लिए एक फफोला उठता है, और स्नेह से भरता है। वह फफोला भी सच्चा होता है और स्नेह भी, पर वह स्वाभाविक होकर भी स्वयंभूत नहीं होता. वह एक बाह्य कारण से, एक रिक्त की या पीड़ा की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है...

इसे कार्मेन भी नहीं जानती, मेरिया भी नहीं जानती। क्योंकि जो स्वयं जीने की क्रिया में व्यस्त होते हैं, उन्हें जीवन के स्रोतों का अन्वेषण करने का समय नहीं होता, शायद प्रवृत्ति भी नहीं....

मेरिया और कार्मेन के इस पाँच डालर मासिक के—साढ़े सात आने रोज के—जीवनमें एक व्यक्ति और भी उलझा हुआ है। वास्तवमें उलझा ही हुआ है, क्योंकि मिगेल तो उसका एक स्वाभाविक अंग है और यह व्यक्ति है एक पहेली, एक उलझन भी, जो विभिन्न अवस्था में शायद सुलझाई भी जा सकती, और जो किसी भी अवस्था में उनके जीवन का आवश्यक अंग नहीं हुई और न होगी....यह व्यक्ति है सेबेस्टिन।

वर्तमान युग की गिनती में सेबेस्टिन से दोनों बहनों का परिचय बहुत दिन से है। वह भी किसी समय समृद्ध था, उसकी पत्नी मोटर में बैठती थी, उसके बेटे अभिजनों के स्कूल में पढ़ते थे....पर अब वह भी मजदूरी करता है और दिन-भर खून-पसीना एक करके भी अपना खर्च नहीं चला सकता—विशेषतःइसलिए कि अपनी स्त्री का वह तुषारमय, उलाहने-भरा मौन उससे नहीं सहा जाता, उसे देखकर वह कई बार किसी भयंकर आग से भर जाता है और बिलकुल हृदयहीन एक मारक शस्त्र की तरह हो

जाता है—अनुभूति, दया, आचार-ज्ञान तक से परे, उठे हुए खाँड़े की तरह, जो गिर ही सकता है, और जिसके गिरने को नीति-शास्त्र नहीं नियंत्रित कर सकता।

वह मिगेल का सखा था, सहयोगी था, विश्वासपात्र था। मिगेल के साथ सामान्य दारिद्रय में बँधा था, और मिगेल इस बंधन को ही सब से बड़ा बंधन समझता था और इसीके कारण सेबेस्टिन का विश्वास करता था। पर मिगेल अकेला था और स्वच्छंद, सेबेस्टिन अपनी गृहस्थी के बन्धनों में बँधा हुआ और सुरक्षित था। इसलिए मिगेल मित्रता में पूर्णतया बँध जाता था और सेबेस्टिन उससे घिरकर भी उसके भीतर एक आत्मनिर्णयाधिकार बनाये रखता था...

मेरिया से मिगेल ने सेबेस्टिन का भी परिचय कराया था। मेरिया उन दोनों व्यक्तियों का विभेद देखती थी, किंतु सेबेस्टिन के प्रति मिगेल का आदरभाव देखकर, अपने विचारों को दबा लेती थी। मिगेल उसका कुछ नहीं था, किंतु उसके बिना जाने ही उसका मन इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि जो कुछ मिगेल का निजी है, वही उसका भी है।

मिगेल चला गया, बंदी भी हो गया। मेरिया के जीवन में इससे कोई विशेष परिवर्तन प्रकट नहीं हुआ—सिवा इसके कि अब बहनों को जो कुछ खाने-पीने को प्राप्त होता है, वह मेरिया को अपनी कमाई का फल होता है, क्योंकि सेबेस्टिन उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकता—वह स्वयं इसका आकांक्षी है! सेबेस्टिन, और मेरिया अब कभी-कभी मिलते हैं, बस! कभी मेरिया सेबेस्टिन के घर का स्मरण करके, उसे अपने यहाँ रोटी खिला देती है। तब सेबेस्टिन कृतज्ञ तो होता है, पर उसके हृदय में स्वभावतः ही यह भाव उदय होता है कि इन बहनों के पास आवश्यकता से अधिक धन है, नहीं तो ये क्यों मुझे खिलातीं—कैसे खिला सकतीं? बेचारे सेबेस्टिन के अब वे दिन नहीं थे, जब वह सोचे, मैं किसीको खिला सकता हूँ। और उसका यह भाव, उसकी कृतज्ञता के पीछे छिपा होने पर भी, मेरिया को दीख जाता था। तब वह विषण्ण-सी होकर, सेबेस्टिन के चरित्र को समझने की चेष्टा करती थी। वह उसके बहुत पास पहुँच जाती थी; किंतु पूर्णतया हल नहीं कर पाती थी, सेबेस्टिन उसके लिये एक उलझन रह जाता था, जो सुलझ सकती है, यद्यपि अभी सुलझी नहीं; जो एक पहेली है, जिसका हल है तो, पर अभी प्राप्त नहीं हुआ...

तब वह सांत्वना के लिए जाती थी—अपने चिरअभ्यस्त कवियों के पास नहीं—उस चिर-अभ्यस्त कविता के जीवन-राहु, आँधी-पानी धुएँ के पैगंबर कार्लमार्क्स की शरण में ! क्योंकि, उस समय उसकी मन-स्थिति कोमल कविता के अनुकूल नहीं होती थी, वह चाहती थी एक भैरव कविता, उच्छल लहरी की तरह एक ही भव्य गर्जन में सब कुछ डुबानेवाली, घोर विनाशिनी...

वह कार्मेन को बुलाकर पास बिठा लेती और उसके साथ पढ़ने लगती। कार्मेन के उत्साहशील तरुण हृदय को मिगेल ने पूरा कम्यूनिस्ट बना दिया था। वह कार्लमार्क्स के नाम पर किसी समय कुछ भी पढ़ने को प्रस्तुत थी। उसकी इस तत्परता में वही व्यग्र भावुकता थी, वही सहज स्वीकृति जिसका मार्क्स प्राणशत्रु था, पर उससे क्या ? मार्क्स उसकी बुद्धि को पुष्ट कर सकता था, पर उसकी स्वाभाविक चंचलता को नहीं।

मेरिया भी, मार्क्स को अपने मस्तिष्क से नहीं, अपने हृदय से पढ़ती थी। कार्मेन जब देखती कि मेरिया किस प्रकार उसके उच्चारण में ही लीन हुई जा रही है, उसके तर्क की ओर नहीं जाती, केवल उसकी विराट् विध्वं-सिनी प्रेरणा में बही जा रही है, तब मेरिया के भाव को प्रतिबिंबित करता हुआ, एक रोमांच-सा उसे भी हो जाता था, एक कँपकँपी-सी उसके शरीर में दौड़ जाती थी, वैसी ही जैसी किसी अनीश्वरवादी मूर्तिपूजक के हृदय में किसी भव्य मंदिर में आरती को देख-सुनकर हो उठती है।....जब मेरिया पढ़ चुकती थी, तब कार्मेन अकस्मात् कह उठती—'मिगेल के पढ़ानेमें तो यह नहीं होता था—'

मेरिया पूछती, क्या ? तो कार्मेन से उत्तर देते न बनता। वह मन-ही-मन कल्पना करती, कहीं विजन समुद्र-तट पर बने हुए गिर्जाघर में समवेत गान हो रहा हो और लहरों के नाद से मिल रहा हो...और इस भाव को कह नहीं पाती थी, एक खोई-सी मुस्करा देती थी।

आज, सेबेस्टिन के जाने के बाद भी, यही हुआ—मेरिया पढ़ने लगी और कार्मेन चुपचाप सुनने लगी। किंतु, मेरिया से बहुत देर तक नहीं पढ़ा गया। उसने उकताकर पुस्तक रख दी और बोली—'फिर सही।'

कार्मेन ने धीरेसे पूछा—'मेरिया,आज तुम्हें कुछ हो गया है? बताओ, सेबेस्टिन क्या कहता था ?'

मेरिया जैसे चौंकी। बोली—'कुछ तो नहीं ?'

उस स्वर में कुछ था, जिसने कार्मेन को झकझोरकर कहा—'पास आ !' कार्मेन आई और मेरिया की गोद में सिर रखकर बैठ गई। मेरिया ने उसे पास खींच लिया और उसे गले से लिपटाये बैठी रही''कभी-कभी कार्मेन को मालूम होता, मेरिया वहाँ नहीं है, तब वह सिर उठाकर मेरिया का मुँह देखना चाहती; पर मेरिया उसे और भी जोर से चिपटा लेती, सिर उठाने न देती थी...

ऐसे ही, धीरे-धीरे संध्या हो गई। खजूर के पेड़ों के पीछे सारा वायु-मंडल स्वर्णधूल से भर-सा गया, जिसमें गन्ने के खेत अदृश्य हो गये। जो क्षितिज दोपहर में बहुत दूर जान पड़ रहा था, वह अब बहुत पास आ गया, मानो खजूर के वृक्षों के नीचे ही घोंसला बनाने को आ छिपा। दूर कहीं अमरीकन राजदूत के भवन से घंटे का स्वर सुन पड़ने लगा और नगर से शोर भी एकाएक बहुत पास जान पड़ने लगा था....

कार्मेन मेरिया की गोद में बिलकुल चुप पड़ी थी। मेरिया ने पूछा—'कार्मेन, सो गई क्या ?, तब कार्मेन ने गोद में रखा हुआ सिर, मेरिया के शरीर से रगड़कर हिला दिया और झूठमूठ के रूठे स्वर में बोली—तुम बताती तो हो नहीं।

'ओ, वह !' कहकर मेरिया फिर चुप हो गई। थोड़ी देर बाद बोली—'कार्मेन, तुझसे एक बात पूछनी है; न, उठ मत, ऐसी ही पड़ी रह !'

कार्मेन ने विस्मय से कहा—'क्या आज रोटी नहीं खानी है ?'

'खा लेंगे। तू सुन तो !'

'हाँ, कहो।'

'कार्मेन, जानती हो, जब माँ मरी है, तब हमें बिलकुल अनाथ नहीं छोड़ गई ?' मेरिया ने गंभीर स्वर में ऐसी मुद्रा से यह प्रश्न किया, जैसे उत्तर की भी अपेक्षा नहीं और ऐसे ही कहती चली। कार्मेन चुपचाप सुनने लगी।

'वह मुझे थोड़े-से गहने सौंप गई थी। बहुत तो नहीं थे,पर आजकल के जमाने में उतने ही बहुत होते हैं। कुछ तो हमारे वंश की परंपरा में ही चले आ रहे थे, कुछ माँ ने तेरे विवाह के लिए बनवाये थे।'

'मेरे ? और तुम्हारे लिए नहीं ?'

'हाँ, मेरे भी थे, सुन तो। यह सब वह सौंप गई थीं, और सँभालकर रखने को कह गई थीं। इसके अलावा एक मोती भी है, जो मिगेल ने

कार्मेन ने, बहुत दिनों से इस प्रकार अपने-आपको प्रकृति की प्रकृतता में नहीं भुलाया—उसका जीवन ऐसा हो गया है कि इसके लिए अवसर नहीं मिलता; इसलिए जब अवसर मिल भी जाता, तब उस स्वप्न-संसार से लौटकर आने की चोट के भय से वह उधर जाती ही नहीं, पर आज, इतने दिनों बाद न-जाने क्यों, उसे बड़ी प्रसन्नता हो रही है! शायद एकाएक मिगेल के निकलने की संभावना के कारण, शायद इस अनुभूति से कि आज उसकी बहन के प्यार में सदा से अधिक कुछ था, कोई वस्तु नहीं, किंतु एक प्रकार की विशिष्टता का कोई सूक्ष्म भेद... कार्मेन एक विचित्र, अदम्य त्याग-भावना से भरी, प्रदोष के नभ को देख रही है। देख नहीं रही, प्रतिबिंबित कर रही है। नभ के प्रत्येक छाया-परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके प्राणों में भी, मानो एक पर्दा बदलता है।

सूर्यास्त के बाद का रंग जाने कैसा, कलुषा लिये लाल-लाल, मैला-सा हो रहा है...और उसे देखकर कार्मेन के मनः क्षेत्र में किसी अँधेरे विस्तृत कोने से एक विचार, या छाया, या कल्पना आ रही है....वह आकाश उसे ऐसा लग रहा है, जैसे वन में किसी रहस्यपूर्ण नैश-उत्सव की अपनी आग दीप्ति, उसे प्रतिबिंबित करती हुई, किसी भैरव देवता की विराट, चमकती हुई, काली प्रस्तर-मूर्ति की खुली-खुली चपटी-चपटी फैली हुई छाती....

कार्मेन सोचती है कि वे दोनों बहनें उस देवता की रक्षिता हैं, यद्यपि वह देवता बड़ा विकराल है....पर, मेरिया अभी तक आई नहीं क्यों?

हम सांध्य आकाश की छटा को एक स्वतंत्र विभूति मानते हैं, पर वह है क्या? वह है किसी अन्य के, किसी अस्त हुए आलोक की प्रतिच्छाया मात्र...

और, हम समझते हैं, संध्या में एक आत्मभूत, आत्यंतिक सौन्दर्य है, पर वहाँ वैसा कुछ नहीं है....हम संध्या में देखते हैं—केवल अपने अंतर का प्रतिबिंब, अपनी बुझी हुई आशाओं-आकांक्षाओं का स्फूर्तिमान कंकाल....

नहीं तो, कैसे होता कि जिस सांध्य आकाश में कार्मेन को ऐसा भव्य चित्र दीखता है, उसीमें चालीस मील दूर मेटांजास के फौजी जेल में बैठे मिगेल को इतना वीभत्स चित्र दीखता है....

चार-पाँच खीमे गड़े हैं, जिनके आस-पास कँटीले तार का जँगला

लगा हुआ है। उसके भीतर-बाहर दोनों ओर, सहस्र सिपाहियों का पहरा है और उससे कुछ दूर एक और खीमा लगा है, जिसके बाहर बैठे सिपाही गाली-गलौज कर रहे हैं। उनके सामने ही तीन-तीन बंदूकों को मिलाकर बनाये हुए चार-पाँच कुन्दले (Piles) हैं। और उनसे आगे प्रशांत खेत और पश्चिमीय क्षितिज....

एक खीमे के बाहर मिगेल खड़ा है। उसे बाहर निकलने की अनुमति नहीं है, किन्तु पहरेवाले सिपाही की दया से वह कुछ देर के लिए बाहर का दृश्य देखने निकला है। वह, उन बन्दूकों के कुंद की अग्रभूमि से और खेतों के मौन से पार के सांध्य आकाश को देख रहा है, और सोच रहा है...

इसी दिशा में चालीस मील दूर हवाना है, वहाँ उसका सब कुछ है। कुल चालीस मील, पर, चालीस मील ! वह सोचता है, यदि आज मैं छूटकर हवाना पहुँच सकूँ, तो क्या कुछ कर सकूँगा....न-जाने वहाँ क्या परिस्थिति है—बहुत दिनों से समाचार नहीं आया, विद्रोह की इतनी तैयारियाँ थीं और शायद उसका आरंभ भी हो गया हो...जिस विद्रोह को जगाने में उसने इतना यत्न किया, जिसके लिए वह यहाँ भी आया, उसीमें वह भागी नहीं हो सकेगा—हाय वञ्चना !

वह चाहती है, तीव्र गति से इधर-उधर चलकर अपने अंदर भरते हुए इस अवसाद को कुछ कम कर ले ; पर, उसे तो वहाँ निश्चल खड़ा रहना है। उसे तो हिलना भी नहीं है, वह तो वहाँ खड़ा भी है तो एक सिपाही की अनुकंपा से, मैकाडो के सिपाही की अनुकंपा से...हाय परवशता !

उसके मन में विचार उठता है, आज रात ही इसका अंत करना है। वह अकेला ही है, अकेला ही यत्न करेगा। वह इस बन्धन का अंत आज ही रात में करेगा—मुक्ति के लिए प्राणों पर खेल जायगा। प्राण तो जाते ही हैं—शायद पहले मुक्ति मिल जाय। एक सिपाही ने उसे सहायता का वचन दिया है, वह उसे कँटील तार के पार तक जाने देगा। उसके आगे मिगेल का अधिकार है। उसके पास एक पिस्तौल है। वह यदि निकलकर भाग न सकेगा, तो अपना अंत तो कर सकेगा। यदि शत्रु की गोली से भी मरेगा, तो कँटीले तार के उस पार तो मरेगा ! उस कँटीले तार की रेखा ही उसके लिए जीवन और मरण की विभाजक-रेखा हो रही है, मुक्ति का संकेत—हाय दासता !

बुद्धि उसे कहती है, ये विचार तुझे विचलित कर देंगे। युद्ध में निश्चय हो जाने के बाद विकल्प नहीं करना चाहिए—वह तो उससे पूर्व की बातें हैं...तब वह कहीं पढ़ी हुई कविता की दो-चार पंक्तियाँ दुहराता है और सूर्यास्त को देखकर, वही वीभत्स कल्पनाएँ करने लगता है....

यह वही आकाश है, वही आलोक का छायानर्तन...वही कलुषामयी लाली, वही फीका-फीका मैलापन...पर मिगेल क्या देखता है? जैसे, रोगिणी क्षितिज का रक्तमिश्रित रजस्राव....या, जैसे कालगति से किसी विकराल जंतु के प्रसव के बाद गिरे हुए फूल...अपनी कल्पना की वीभत्सता से वही मचमचा जाता है, पर यह उसे आती है और आती है... और इतना ही नहीं, वह यह भी सोचने लगता है कि वह विकराल जंतु क्या होगा, जिसके प्रसव के ये फूल हैं—वह क्रूर, भयंकर, नामहीन, आतंक...

वह तो बहुत दूर है, यहीं हवाना के अंतिम में उसी सूर्यास्त को एक और व्यक्ति देख रहा है—सेबेस्टिन।

वह अपने घर में अकेला है, यद्यपि उसके पास ही उसकी स्त्री और बच्चे हैं, और उसकी स्त्री उसे कुछ कह रही है। वह कुछ सुन नहीं रहा है, उसे आज अपनी स्त्री के चुभ जानेवाले शब्दों का भी ध्यान नहीं, वह उससे भी अधिक चुभनेवाली बातों पर विचार कर रहा है...वह विश्वासघात होगा, यह भी अनुभव कर रहा है कि यह भयंकर पाप, अत्यंत नीचता होगी, वह इस पर लज्जित भी है; किंतु किसी अपर शक्ति से बँधा हुआ-सा वह यह अनुभव कर रहा है कि यह होगा अवश्य, उससे होगा, और वह सब कुछ देखते हुए भी अंधा होकर इसे करेगा...

क्या करेगा? कुछ भी तो नहीं। किसीके पास आवश्यकता से अधिक धन है, उसे ले लेगा, उनके लिए जिन्हें उसकी आवश्यकता है—अपनी बीवी और बच्चों के लिए...यह कोई पाप है? और फिर, उसने इसके लिए योजना तो बनाई नहीं, उसे कब आशा थी कि मेरिया धनी है—उसने तो पता लगाने के लिए प्रश्न पूछा था...मेरिया स्वयं ही कहती है...भाग्य उसे कुछ देता है, तो वह न लेनेवाला कौन? यह झूठा, दगाबाज, आत्मवंचक। अब उसे दीखता है, वह कुछ हो, वह एक अप्रतिरोध प्रेरणा से बँधा हुआ है...। और उसके लिए, यदि कहीं क्षमा नहीं तो उसी प्रेरणा से अवश्य मिलेगी...

सारा आकाश, सारी सृष्टि, आगे के लाल प्रतिबिंब और काले-काले धुएँ से भरी हुई है! तब वही कहाँ से एक शीतल आत्मा ले आवे, वही कहाँ से आदर्श पुरुष हो जाय वही कहाँ उस लाल प्रतिज्योति और उस काले धुएँ से बचकर जा पहुँचे।

और वह अकेला ही उसे नहीं देख रहा यहीं हवाना शहर में, उसी सूर्यास्त में, अनेक व्यक्तियों को क्या कुछ दीख रहा है..

यहाँ हवाना का वह अंश रहता है, जिसे कभी उसका अंश गिना नहीं जाता, किंतु जिस पर उसका अस्तित्व निर्भर करता है....जो हवाना की गरीबी का निकेत है, किंतु जो हवाना की संपत्ति को बनाता है...यहाँ वे पुरुष हैं, जो दिनभर मजदूरी करके एक मास में उतना कमा पाते हैं, जितना अमरीकन मजदूर, जिसके भले के नाम पर इन लोगों को पीसा जा रहा है और जो स्वयं किसी और के भले के लिए पिसेंगे! यहाँ वे औरतें भी हैं. जो दिनभर और आधी रातभर सिलाई का काम करती हैं और एक दर्जन कमीजें सीकर पाँच आने वेतन पाती हैं, या जो अपने शरीर को बेचकर उसके मूल्य में दो आने पैसे और कोई मारक रोग पाकर, कृतज्ञ भी हो सकती हैं...यहाँ वे लड़के भी हैं, जो अपने माता-पिता के पेट का खालीपन कम करने के लिए वह भी करने को तैयार रहते हैं, जिसके विरुद्ध समस्त मानवता चिल्लाती है—

वे सब सूर्यास्त को देख नहीं रहे हैं, पर सूर्यास्त उनके आँखों के आगे है। उन्हें कुछ-न-कुछ दीखता भी है। उनके पास इतना समय नहीं कि रुक कर उसे देखें, उस पर विचार करें, पर उनकी अशांति में सूर्यास्त के प्रति एक भाव जाग रहा है...

वही कलुषापूर्ण लाल-लाल, मैला-सा आकाश...उनके मनमें ऐसा है, जैसे क्रोध की पिघली हुई आग उबल-उबलकर बैठ गई हो; ऊपर सतह पर छोड़ गई हो एक धूसर-सी, जल-बुझी-सुलगती-सी एक कुढ़न की आग...

उनके हृदय में भी कुढ़न की आग-सी उठ रही है...वे समझते हैं, उनमें क्रोध की ज्वाला है, पर क्रोध करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है, और वे हैं निर्बल, और अपनी निर्बलता से परिचित। वह कुढ़ ही सकते हैं, जैसे कि वह अबतक करते रहे हैं....

आज वे जो तैयारी कर रहे हैं, वह क्रोध नहीं, वह भी कुढ़न की आग ही है। जभी तो वे ऐसे चुप-चुप-से हैं यद्यपि वे विद्रोह की तैयारी में हैं,

उसीके लिए निकल भी पड़े हैं....उनके प्रतिनिधियों का एक दल जा रहा है महल और फौजी बारकों की ओर, और दूसरा दल चला है विद्रोह के द्रोहियों की तलाश में; पर उनकी प्रेरणा क्रोध नहीं, उनकी प्रेरणा है केवल भूख....उन्हें फौज से सहायता की आशा है, पर वे पुलिस से डर भी रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पुलिस के जत्थे भी विद्रोहियों की खोज में हैं, और चूँकि उनके हृदय में डर है, इसीलिए वे सोच भी सकते हैं, तैयारी भी कर सकते हैं, भविष्य की ओर उन्मुख भी हो सकते हैं...

संध्या बहुत घनी हो गई....

४

कार्मेन मेरिया से पूछ रही थी—बड़ी देर कर दी ? कि सेबेस्टिन ने पुकारकर पूछा—आ जाऊँ ?

मेरिया ने कंधे पर से चादर उतारकर रखी और कार्मेन से बोली—ले, देख !

कार्मेन व्यग्रता से उस हँड़िया को खोलकर, उसके भीतर मोमजामे में लिपटे हुए आभूषणों को निकालकर देखने लगी। सेबेस्टिन ने दबे विस्मय से पूछा—इन्हें कहाँ से लाई ?

मेरिया एक छोटी-सी संतुष्ट हँसी हँसी। फिर कार्मेन से बोली—कार्मेन, तू इन्हें ले जाकर सो, हम जरा बातें कर लें।'

कार्मेन चली गई तो मेरिया ने धीमे स्वर में सेबेस्टिन से पूछा—पर्याप्त होंगे ?

"होने तो चाहिए। तुम्हें मूल्य का कुछ अनुमान है !"

"पाँच सौ से तो कहीं ज्यादा के हैं।"

"हाँ, पर आजकल तो बहुत घाटे पर देने पड़ेंगे। और, आज तो बहुत ही कम।"

"आज कोई खास बात है ?"

"हाँ, पर वह ठहरकर बताऊँगा। तो, यह मैं ले जाऊँ ?"

मेरिया ने कुछ हिचकिचाते हुए कहा—"हाँ।" सेबेस्टिन ने समझा, शायद संदेह के कारण हिचकिचा रही है। ऐसी अवस्था में उसने चुप रहना ही उचित समझा। मेरिया बोली—"मैं ले आऊँ ?" और भीतर चली गई।

वहाँ से लौटकर आते, उसे केवल आभूषण लाने में जितनी देर लगनी चाहिए थी, उससे अधिक लगी। क्योंकि उसे एकबार फिर कार्मेन

से पूछना था कि आभूषण देखकर उसकी राय बदल तो नहीं गई, उसे बताना था कि कौन किसका था, उसे और कुछ नहीं तो मिगेलवाला मोती उसके हाथों गले में पहनकर दिखाना भी था; उसके मोती रखने का आग्रह सुनकर उसे टालना भी था और फिर सब आभूषण दे डालने के लिए उसकी प्रसन्न स्वीकृति पर, उसे चूमना भी था और उसके शरारत-भरे इस कथन पर कि "तुम्हारे मिगेल के लिए तो है," एक हलका-सा मीठा चपत लगाकर तब कहीं बाहर आना था।

सेबेस्टिन ने चुपचाप गहने लेकर वस्त्रों में कहीं रख लिये। तब बोला-कोशिश करूँगा कि आज ही धन का प्रबंध हो जाय, एक-दो अमरीकन बैंकर हैं, जो रात में भी काम करते हैं बल्कि रात में ही काम करते हैं।

"हाँ।"

थोड़ी देर चुप्पी रही। फिर मेरिया एकाएक बोली हाँ, यह तो बताओ, वह खास बात क्या थी ?

"अरे, मैं तो भूल ही चला था इतनी जरूरी बात ! यहाँ फौजवालों और विद्यार्थियों के साथ मिलकर लोगों ने कल बड़े सबेरे विद्रोह कर देने का निश्चय किया है।"

"हैं ! कल ? अभी पिछले निश्चय को दस ही दिन तो हुए हैं !"

"हाँ, अब भी आशा बहुत है। फौज सारी विद्रोही है मैकाडो के पक्ष में पुलिस ही होगी। अगर कहीं मार-काट हुई भी तो थोड़ी ही। अकस्मात् ही कहीं हो जाय, नहीं तो जितनी होगी, हवाना शहर के बाहर ही होगी।"

"पर घुड़सवार पुलिस भी तो सशस्त्र है, और खुफिया?"

"हाँ, उनसे संभावना है। पर वह हैं कितने ?"

"जितने भी हों।"

"देखा जायगा !" कहकर सेबेस्टिन ने बिदा माँगी और चला। चलते-चलते न-जाने क्या सोचकर एकाएक रुक गया और बोला—मेरिया, इन आभूषणों में से कोई एक-आध रखना हो तो रख लो।

"नहीं, जब पाँच सौ डालर पूरे होने की आशा नहीं तो क्यों ? यदि अधिक मिल सके, तब चाहे कोई रख लेना—"

"कौन-सा ?"

मेरिया ने इस प्रश्न का उत्तर विधि पर डालते हुए कहा—जो भी हो। पर, कोई भी क्यों रखना, जितना धन मिले, सब भेज देना। क्या

पता उसे अधिक की जरूरत पड़ जाय—ऐसे समय लोभ नहीं करना चाहिए !

"हाँ, यह बात तो है।" कहकर सेबेस्टिन जल्दी से चला गया। मेरिया वहीं खड़ी-खड़ी बाहर अंधकार की ओर देखकर कुछ सोचने लगी, कुछ देखने लगी, तभी कार्मेन की आवाज आई—सोने नहीं आओगी ?

उनके ऊपर एक कोमल उदासी छा गई।

मेरिया कोहनी टेके एक करवट लेटी हुई थी, किन्तु सिर उठाये हुए उसे हथेली पर टेककर। और, कार्मेन उससे चिपटकर, उसकी छाती में मुँह छिपाये पड़ी थी !

समाचार मेरिया सुन चुकी थी। दोनों ने यह निश्चय कर लिया था कि कल उन्हें क्रांति-विद्रोह में मिल जाना होगा, यद्यपि कैसे क्या करना होगा, यह वे नहीं सोच सकी थीं—

और, इस निश्चय पर पहुँच जाने के बाद, जो विचार-रहस्य-गर्भित मौन छा गया था, उसी में दोनों पर वह उदासी छा गई थी, न-जाने क्यों।

कार्मेन देख रही थी क्रांति की विजय के स्वप्न, और उस स्वप्न की भव्यता में उसे एक कँपकँपी-सी आती थी, एक रोमांच-सा होता था, किन्तु मेरिया और मिगेल की उस विजय पर छाई हुई छाया और मेरिया का इस समय का घनिष्ठ समीपत्व उसे उदासी के उस नशे में से बाहर नहीं निकलने देता था...

मानो मेरिया के शरीर में से, किसी अज्ञात मार्ग से, उसका प्रगाढ़ नैराश्य कार्मेन में प्रविष्ट हो रहा था। क्योंकि मेरिया के हृदय पर नैराश्य की छाया थी; ऐसा नैराश्य जो अपनी सीमा पर पहुँचकर नष्ट हो गया है, भाव नहीं रहा एक आदत-सी हो गई और इसलिए स्वयं मेरिया को भी दृश्य नहीं होता !

कार्मेन ने, किसी गहरी छाया के दबाव का अनुभव करके, धीरे से कहा—कुछ गाओ !

मेरिया ने दूरस्थ भाव से कहा—आज तो जी नहीं करता कार्मेन ! कल सुन लेना।

'कल तो...' कहकर कार्मेन एकाएक चुप हो गई। जिस छाया से वह बच रही थी, वह तनिक और भी गहरी हो गई...

बहुत देर बाद, कार्मेन एकाएक चौंकी। मेरिया की आँखों से एक

आँसू उसके गाल पर गिरा था—एक अकेला, बड़ा-सा, गर्म...

उसके चौंकते ही कार्मेन में जोर से उसे अपने से चिपटा लिया और बार-बार घूँटने लगी...

मेरिया का भाव कार्मेन समझ नहीं सकी, किन्तु फिर भी, यह अतिरेक अच्छा-सा लगा...वह मेरिया के मानसिक संसार में प्रविष्ट नहीं हो सकी, किन्तु मेरिया के शरीर के इस दबाव का प्रतिदान देने लगी...उस श्रोता की तरह, जो किसी कलाकार गायक का गान सुनते हुए, स्वयं गाने की क्षमता न रखकर भी अपने को भूलकर गुनगुनाने और ताल देने लगता है...

तब न-जाने कितनी और देर बाद, मेरिया भी बहुत धीरे स्वर में गाने लगी—एक अंग्रेजी कविता का टुकड़ा, जो उसने अपने समृद्ध जीवन में कभी सीखा था...

Must a little weep, love,
Foolish me!
And so fall asleep, love,
Loved by thee...

और उन्हें इस व्यवहार में लीन देखकर रात चुपके-चुपके तीव्र गति से भागने लगी, मानो उन्हें धोखा देने के लिए, मानो ईर्ष्या से...

और मेरिया और कार्मेन बार-बार चौंक-सी जातीं और थोड़ी देर बातें कर लेतीं और फिर चुप हो जातीं, और कार्मेन दो-चार झपकियाँ सो भी लेती...कभी-कभी एकाध आँसू गिर जाता तो दोनों ही अपने आँसू-भरे हृदयों में सोचतीं, किसका था? और, फिर अपने को छिपाने के लिए बातें करतीं, या आलिंगन करतीं और इसी चेष्टा में वही प्रकट हो जाता, जो वे छिपा रही थीं...तब वे इसी अतिशय समीपत्व की वेदना से घबराकर आगे देखने लगतीं—भविष्य की ओर। मेरिया किधर और कार्मेन किधर...उनके पथ विभिन्न थे और प्रतिकूल, किन्तु न-जाने कैसे अपने अन्त में वे मिल जाते थे—एक खारी बूँद में, एक दबाव में, एक साँस में, एक तपे हुए मौन में, या इन सभी की अनुपस्थिति की शून्यता में!

प्रतीक्षा की रातों को प्रतीक्षक का भाव ही लम्बी बनाता है, किन्तु यदि उनसे वह भी न हो, तो वे रातें कैसे कटें—अन्तहीन ही न हो जायँ!

५

रात में आग फट पड़ी है!

जलती हुई पृथ्वी को रौंदते हुए, काल के घोड़े दौड़े जा रहे हैं... और उनके मुँह से पिघली हुई आग का फेन गिर रहा है, उनके फटे-फटे नथनों में से ज्वाला की लपटें निकल रही हैं...और कालपुरुष, मृत्यु के धुएँ में घिरा बैठा है, घोड़ों को ढील देता जा रहा है और शब्दहीन किन्तु सदर्प आज्ञापना से कह रहा है—'बढ़ो—रौंदते चले जाओ!' और पृथ्वी की लाली और काल-पुरुष के प्रयाण की लाली के साथ ऊषा के जलते हुए आकाश की लाली मिल रही है...

हवाना में विद्रोह हो गया है...

उसमें बुद्धि नहीं है—अशांति को कहाँ बुद्धि? उसमें संगठन नहीं है—रिक्तता का कैसा संगठन? उसमें नियंत्रण नहीं है—भूख का क्या नियंत्रण? उसकी कोई प्रगति भी नहीं—विस्फोट की किधर प्रगति?

विद्रोह इन सबसे परे है...वह मानवता के स्वाभाविक विकास का पथ नहीं, वह उसके अस्वाभाविक संचय के बचाव का साधन है, उसकी बाढ़ का flood channel... वह ज्वर की तरह बढ़ रहा है। उसका घात है—

इधर जहाँ मैकाडो के महल के आगे इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है, जहाँ महल लूट लिया गया है, जहाँ महल का सब सामान यथावत् पड़ा है, केवल खाद्यपदार्थ लूटे जा रहे हैं, और बिखर रहे हैं;

इधर जहाँ बहुत-से निहत्थे लोगों ने किसी समृद्ध राजकर्मचारी के घर से एक मोटा-सा सूअर निकाला है और उसे कच्चा ही काट-काटकर, नोच-नोच-कर खा रहे हैं, भूनने के लिए भी नहीं रुक सकते, यद्यपि आग पास ही जल रही है;

इधर जहाँ कोई एक कर्मचारी अपने अच्छे-अच्छे वस्त्र फेंककर अपने नौकरों के फटे-मैले-कुचैले कपड़े पहन रहे हैं कि वे भी इस गंदी शून्यता में छिप सकें;

इधर जहाँ बीसियों नंगे लड़के, महलों के पीछे जमे हुए कूड़े-कर्कट की ढेर में से टुकड़ बीन-बीनकर खा रहे हैं—वही टुकड़, जिन्हें वहाँ के कौए भी न खाते थे;

इधर जहाँ पुरुषों की भीड़ में अनेक अच्छी-बुरी स्त्रियाँ और वेश्याएँ तक उलझ रही हैं, पर किसी को ध्यान नहीं कि वे स्त्रियाँ भी हैं;

इधर जहाँ पाँच-चार विद्रोही सैनिक के साथ जुटी हुई विद्यार्थियों और नवयुवकों की भीड़ केना के फूल और खजूर की डालियाँ तोड़-तोड़कर, उछाल-उछालकर चिल्ला रही है, और मैकाडो के पलायन की खुशी में अपना ध्येय, कर्तव्य और योजनाएँ भूल गई है; पागल हो गई है...

इधर जहाँ शोर हो रहा है, पर शोर की भावना से नहीं; नाच हो रहा है, पर नाच की भावना से नहीं; झगड़ा हो रहा है, पर झगड़े की भावना से नहीं; हत्या हो रही है, पर हत्या की भावना से नहीं; बदले लिये जा रहे हैं, पर बदले की भावना से नहीं;

इधर जहाँ क्रांति हो रही है, पर बिना उसे क्रांति समझे हुए, बिना उसे किये हुए ही...

और उसका प्रतिघात...

इधर जहाँ मैकाडो के कर्मचारियों की स्त्रियाँ व्यस्त वस्त्रों में किन्तु मुँह को चित्र-विचित्र पंखों की आड़ में छिपाये, मोटरों या गाड़ियों में बैठ-बैठकर भाग रहे हैं;

इधर जहाँ मैकाडो की पुलिस, मैकाडो के भाग जाने पर भी अपने पुलिसपन की धुन में मदमत्त, स्त्री-पुरुष-बच्चा, जो सामने आ जाता है उसी को, पीटती हुई बढ़ी जा रही है;

उधर जहाँ खुफिया पुलिस के सिपाही एक छोटे-से लड़के से उसके विद्रोही पिता का पता पूछ रहे हैं और उसकी प्रत्येक इन्कारी पर कैंची से उसकी एक-एक उँगली काटते जाते हैं;

उधर जहाँ उन्हीं का एक समूह लोगों को पकड़-पकड़कर समुद्र में डाल रहा है, जहाँ शार्क मछलियाँ उन्हें चबाती हैं;

उधर जहाँ विद्रोहियों के नाखूनों के नीचे तप्त सुए चुभाये जा रहे हैं; और तपी हुई सलाखों से उनकी जननेंद्रियाँ जलाई जा रही हैं;

उधर जहाँ घुड़सवार पुलिस के सिपाहियों ने एक ग्यारह-बारह साल की लड़की को पकड़ लिया है, और किसी पाशव उद्देश्य से उसके कपड़े फाड़ रहे हैं, उन सिपाहियों में से एक कहता है, 'छोड़ दो, अभी बच्ची है', तो दूसरा वीभत्स हँसी हँसकर कहता है, 'क्यूबा में तो बारह साल की लड़की को...

उधर जहाँ सेबेन्टिन मेरिया के गहनों को बेच आया है, अपनी स्त्री को सन्तुष्ट कर आया है और स्वयं अपने हृदय से आत्मग्लानि मिटाकर अपने को निर्दोष मानकर, धीरे-धीरे एक गली में टहलता हुआ सोच रहा है कि यदि उसकी स्त्री न होती तो मेरिया को ठगने के बजाय उससे विवाह ही कर लेता, क्योंकि ठगी निर्दोष होकर भी ठगी ही है...

और उधर जहाँ मिगेल, जो रातभर एक चुराये हुए घोड़े को दौड़ाता हुआ, सैंटियागो से हवाना आया है, जिसका घोड़ा गोली से मर चुका है और जिसकी टाँग भी गोली लगने से लँगड़ी हो गई और खून से भरी पट्टी में लिपटी हुई है। मिगेल मेरिया और कार्मेन को घर में न पाकर हवाना की सूनी-सूनी गलियाँ पार करता हुआ जा रहा है, देखने कि कहाँ क्या हो रहा है, यह सोचता हुआ कि कोई परिचित या विश्वासी मिल जाय तो पता ले कि मेरिया और कार्मेन कहाँ हैं, कि बन्धुओं के और विद्रोह के समाचार क्या हैं, और नगर को एकाएक यह क्या हो गया है। मिगेल, जिसका चेहरा पीड़ा से नहीं, पीड़ाओं के विकृत है; जिसका अधनंगा बदन भूख का नहीं, अनेक बुभुक्षाओं का साकार पुञ्ज है...जो थकान में नहीं, अनेक थकानो में चूर है और गिरता-पड़ता भी नहीं, गिरता चला ही जाता है...

और मेरिया और कार्मेन, जो इस भयंकर ज्वार के घात में भी नहीं, प्रतिघात में भी नहीं, वे कहाँ, किस अपूर्व और स्वच्छन्द समापन की ओर जा रही हैं? इस रौद्ररस-प्रधान नाटक की मुख्य कथा से अलग होकर किस अंतर्कथा की नायिका बनने, किस विचित्र प्रहसन की नटी बनने, विधि की बाम रुचि की कौन-सी पुकार का उत्तर देने, कौन-सी कमी पूरी करने?

इस व्यापक तूफान के बाहर भी कहीं कुछ है?

कहाँ?

क्या?

६

मेरिया और कार्मेन स्त्रियाँ हैं, जातिदोष से ही प्रतिघात पक्ष की हैं, पर अपनी शिक्षा और अपनी रिक्तताओं के कारण उनमें विद्रोह जागा हुआ है, इसलिए वे उधर नहीं जा सकतीं...जभी तो वे कहीं नहीं दिख पड़तीं, न उस लुटी हुई भीड़ में, न उस लूटनेवाली भीड़ में; न उस भूखी

भीड़ में, न उस भूखा रखनेवाली भीड़ में...वे उस क्रांति में नहीं मिलतीं क्योंकि वे उसकी संचालिका नहीं हैं, वे केवल संदेश-वाहिका हैं...

मानव बनाता है, विधि तोड़ती है। मानव अपने सारे मंसूबे बाँधता है रात में, अँधेरे में छिपकर; विधि उन्हें छिन्न-भिन्न करती है दिन में, प्रकाश में। खुले, परिहास-भरे दर्प से मेरिया और कार्मेन ने, बहुत रो-धोकर रात में निश्चय किया था कि दिन में वे भी क्रांति में खो जायंगी। कार्मेन ने छिपे उत्साह से और मेरिया ने छिपी निराशा से, किन्तु दोनों ने ही दृढ़ होकर,...पर, दिन में उन्हें कुछ नहीं दीखा, वे नहीं सोच पायीं कि क्या करें...उन्होंने क्रांति की गति के बारे में जो कुछ सीखा था, वह मिगेल से सीखा था, पर मिगेल वहाँ था नहीं। उसके साथी उनके अपरिचित थे, और जो परिचित थे भी, वे मिल नहीं सकते थे। तब, वे क्या करतीं—कैसे उनके संगठन में हाथ बटातीं? उनके पास कोई साधन नहीं था—यदि था, तो उन्हें ज्ञात नहीं था। वे अपनी एक ही प्रेरणा पहचानती थीं—अपना निश्चय और उसी को लेकर वे क्रांति करने निकल पड़ी थीं...

यह कोई नयी बात नहीं है। संसार में नित्य ही, हजारों और लाखों व्यक्ति कुछ करने निकलते हैं, बिना जाने कि क्या; और कुछ कर जाते हैं, बिना जाने कि क्या या कैसे या क्यों? यह तो सामान्य जीवन में ही होता है, जहाँ आदमी की सामान्य बुद्धि काम कर सकती है, तब क्रांति में क्यों नहीं सौ गुना और सहस्र गुना अधिक होगा...जो क्रांति करते हैं, उनमें कोई इना-गिना है जो जानता है कि वह क्या कर रहा है, यदि कोई कुछ जानते हैं तो इतना ही कि वे कुछ कर रहे हैं, कुछ करना चाहते हैं, कुछ करेंगे...और इतना भी बहुत है; क्योंकि अधिकांश तो इतना भी नहीं जानते कि वे कुछ कर भी रहे हैं, इतना भी नहीं कि कुछ हो रहा है? वे तो एक भीड़ के भीड़पन के नशे में खोकर, नींद में चलनेवाले रोगी की तरह, एकाएक चौंककर जागते हैं और तब वह जानते हैं कि कुछ हो गया है; अब जो है, वह पहले नहीं था, और पहले जो था, वह अब नहीं है...जो कुछ हो चुका होता है, वह एक प्रगाढ़ आवश्यकता के कारण होता है। प्रायः परिस्थितियों की अनियंत्रणीय प्रतिच्छवि होती है, जो सर्वसाधारण के भले के लिए ही क्रियाशील होती है; पर यह सब दूसरी बात है, बल्कि यह तो यही सिद्ध करती है कि सर्वसाधारण का उसके करने में कोई हाथ नहीं होता...

हाँ, तो मेरिया और कार्मेन एक ऐसी आंतरिक माँग को लेकर अपने जीवन की किसी छिपी हुई न्यूनता को, किसी और भी छिपी हुई प्रेरणा की आज्ञापना से पूरी करने के लिए, निकल पड़ी थीं। वह था ऊषा के तत्काल बाद ही और अब तो दिन काफी प्रकाशमान हो चुका था, धूप में काफी गर्मी आ गई थी...

उन्होंने हवाना की गलियों में आकर देखा, कहीं कोई नहीं था। वे इधर-उधर ढूँढ़ती फिरीं, पर सभी लोग किसी अज्ञात अफवाह के उत्तर में इतने सबेरे ही कहीं गुम हो गये थे...

केवल कहीं गली में दो-चार लड़कियाँ और बूढ़ी औरतें उन्हें मिलीं और वे उनके साथ हो लीं। और वे धीरे-धीरे हवाना के बन्दरगाह की ओर उन्मुख होकर चलीं कि और कहीं नहीं तो वहाँ पर लोग अवश्य मिलेंगे, क्योंकि उसके सब ओर हवाना का अभिजातवर्ग और उनके सहायक—राजकर्मचारी, अफसर, सिपाही, पुलिसवाले, व्यापार—इस विराट् प्रपंच के स्तंभ—बसते हैं।...

वे क्रांतिकारिणी नहीं थीं—उनमें क्या था, जो क्रांतिकारी कहा जा सकता है? वे एक निश्चय, और जीवन के प्रति एक भव्य विस्मय का भाव लेकर चल पड़ी थीं! उनमें वह क्रूर प्रचार-भाव नहीं था, जिससे क्रूसेडर लड़ा करते थे, या इस्लाम के मुजाहिद। यदि प्रचार की कोई भावना उनमें थी तो वैसी ही, जैसी तिब्बत में होकर चीन जाते हुए बौद्ध प्रचारक कुमार गुप्त के हृदय में...

जिधर वे जा रही थीं, उधर बहुत शोर हो रहा था और उसको सुन-सुनकर वे और भी तीव्र गति से चलती जाती थीं, उन दो-एक बूढ़ी स्त्रियों में भी किसी प्रकार का जोश जाग रहा था...

आगे-आगे कार्मेन उछलती हुई जा रही थी—जैसे सूर्य के घोड़े के आगे ऊषा... बीच-बीच में, कभी वह किलकारी भरकर कहती थी, 'क्रांति चिरंजीवी हो!' और मानो क्रांति की सत्यता के आगे इस नारे की क्षुद्रता के ज्ञान से, एकाएक चुप हो जाती थी—तब तक, जब कि उसकी आत्म-विस्मृति उसे फिर नारा लगाने की ओर प्रेरित नहीं कर देती थी। बुढ़िया चुप थी—शायद इसलिए कि उन्हें क्या, उनके सात पुरखाओं को भी क्रांति का पता नहीं रहा था...

और मेरिया? वह इस परिवर्तन और अशांति में भी अपना

वैधव्य नहीं भूली थी। वह कार्मेन के साथ-साथ चलने का प्रयत्न कर रही थी, किन्तु फिर भी बिना जल्दी के, एक भव्य मंथरता लिये हुए। उसमें कार्मेन का उत्साह; सुख, यौवन की प्रतीक्षमान चुनौती नहीं थी! न उन बुड्ढियों की उदासीन, विवश स्वीकृतिभाव; उसमें था एक सन्तुष्ट अलगाव, मानो वह कहीं और हो, कुछ और सोच रही हो, कोई और जीवन जी रही हो। उसने मानो इस जीवन की संपूर्णता पा ली थी...

क्यों?

उसके जीवन में आरंभ से ही वंचना रही थी, लगातार आज तक, तब फिर संतोष कहाँ था?

यह जीवन का अन्याय,—(या एक क्रूर न्याय!) है कि उन्हीं की वंचना सबसे अधिक होती है, जो जीवन से सबसे अल्प माँगते हैं। मेरिया ने कभी जीवन से कुछ नहीं माँगा, इसीलिए वह इतनी वंचिता रही है कि उसे कुछ भी नहीं मिला...किन्तु शायद इसी लिए वह आज वंचना में इतनी संतुष्ट है कि सोचती है, वह सफल हो चुकी है, जीवन पा चुकी है और जी चुकी है।

उसने अपना कुछ—अपना सब कुछ!—मिगेल को नहीं तो मिगेल के नाम पर दे दिया है...

वह विधवा है। मिगेल उसका कोई नहीं। पर...

उसका जीवन संपूर्ण हो गया है। उसके जाने, मिगेल उसकी सहायता से छूट गया है, अमरीका चला गया है, आकर क्यूबा को स्वाधीन और सुशासित कर गया है। इसके अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता-क्या उसने अपना सब कुछ इसी उद्देश्य से नहीं दे दिया?

विधवा मेरिया! तेरी फूटी आँखें; फूटी बुद्धि, फूटे भाग्य! चलो दोनों, देखो, संपूर्णता से भी आगे कुछ है...

गली से सड़क, सड़क से चौराहे पर आकर वे एकाएक रुक गई हैं।

चौराहे के आगे ही हवाना महल के सामने का खुला मैदान है। वहाँ बहुत-सी भीड़ इकट्ठी हो रही है, इकट्ठी हो चुकी है, और फिर भी लोग सब ओर से धँसे चले आ रहे हैं। कोई कुछ कर नहीं रहा—क्रांति में कौन क्या करता है?—पर सब धँसे आ रहे हैं, मानो स्वाधीनता यहीं बिखरी पड़ी है और वे उसे बटोरकर ले जायँगे। और कोई जानता नहीं कि वे किस लिए वहाँ आ रहे हैं, केवल और लोगों के उपस्थित होने के कारण वे भी यहाँ आ जुटते हैं—

यहाँ क्या होगा ? कुछ नहीं होगा, मानवता अपनी मूर्खता का प्रदर्शन अपने ही को करेगी, और फिर झेंपकर स्वयं लौट जायगी। या अपने ही से पिटी हुई—सब लोग कहेंगे कि क्रांति सफल हो गई; या दूसरों से--सब लोग जानेंगे कि प्रतिक्रांति की जीत रही। और दोनों अवस्थाओं में वे उस ध्येय को नहीं पायेंगे, जिसके लिए उसमें अशांति उठ रही थी--क्यों अभी उनमें उसे प्राप्त करने की शक्ति नहीं है। वे स्वाधीनता के किसी एक नाम से दासता का कोई एक नया रूप ले जायँगे!

मेरिया स्तिमित-सी होकर खड़ी देख रही है। ये सब भाव उसके हृदय में से होकर दौड़े जा रहे हैं। उसका व्यथा से निर्मल हुआ अंतर बहुत दूर भविष्य को भेदकर देख रहा है, यद्यपि वह वर्त्तमान नहीं देख पाता। उसके मन में एक निराश प्रश्न उठ रहा है, जिसे वह कह नहीं सकती; एक प्रकांड संशय, जिसका वह कारण नहीं समझती। उसका हृदय एकाएक रोने लगा है, यद्यपि वह यही जानती है कि उसे इस समय आह्लाद से भर जाना चाहिए, इस नवल प्रभात में जब उसका देश जागकर स्वतंत्र हो रहा है।...

एक थी कैसैंड्रा जिसकी दिव्य दृष्टि अभिशप्त थी; जिसके फलस्वरूप उसकी भविष्यद्वाणी का कोई विश्वास नहीं करता था...एक है मेरिया, जो इतनी अभिशप्त है कि स्वयं ही अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं कर पाती...उसे कुछ समझ ही नहीं आता, वह पागल की तरह देख रही है—

नहीं; तो वह तो सफल हो चुकी है, संपूर्ण हो चुकी है, उसे अब क्या ? वह तो सन्तुष्ट है, प्रसन्न है!

वह मुड़कर, कार्मेन को आँखों से खोजती है। कार्मेन उससे कुछ ही दूरी पर खड़ी किसी से बात कर रही है।

क्या कह रही है ? उस व्यक्ति को सुनाकर कार्ल मार्क्स के कुछ वाक्य दुहरा रही है, जिसे उन दोनों ने इकट्ठे पढ़ा था और मेरिया को अनुभव होता है, कार्मेन प्रयत्न कर रही है कि उन वाक्यों को मेरिया की तरह बोले...वह व्यक्ति उपेक्षा से, तिरस्कार से, शायद क्रोध से या भय से या किसी मिश्रित भाव से सुन रहा है, क्योंकि वह मैकाडो की पुलिस का आदमी है, (होने दो!) कार्मेन की ध्वनि सुनकर मेरिया आनंद और आह्लाद से भर जाती है, उसका सारा निराशावाद और असन्तोष निकल जाता है...क्या हुआ यदि वह कुछ नहीं है, वह कुछ

वैधव्य नहीं भूली थी। वह कार्मेन के साथ-साथ चलने का प्रयत्न कर रही थी, किन्तु फिर भी बिना जल्दी के, एक भव्य मंथरता लिये हुए। उसमें कार्मेन का उत्साह; सुख, यौवन की प्रतीक्षमान चुनौती नहीं थी! न उन बुड्ढियों की उदासीन, विवश स्वीकृतिभाव; उसमें था एक सन्तुष्ट अलगाव, मानो वह कहीं और हो, कुछ और सोच रही हो, कोई और जीवन जी रही हो। उसने मानो इस जीवन की संपूर्णता पा ली थी...

क्यों?

उसके जीवन में आरंभ से ही वंचना रही थी, लगातार आज तक, तब फिर संतोष कहाँ था?

यह जीवन का अन्याय,—(या एक क्रूर न्याय!) है कि उन्हीं की वंचना सबसे अधिक होती है, जो जीवन से सबसे अल्प माँगते हैं। मेरिया ने कभी जीवन से कुछ नहीं माँगा, इसीलिए वह इतनी वंचिता रही है कि उसे कुछ भी नहीं मिला...किन्तु शायद इसी लिए वह आज वंचना में इतनी संतुष्ट है कि सोचती है, वह सफल हो चुकी है, जीवन पा चुकी है और जी चुकी है।

उसने अपना कुछ—अपना सब कुछ!—मिगेल को नहीं तो मिगेल के नाम पर दे दिया है...

वह विधवा है। मिगेल उसका कोई नहीं। पर...

उसका जीवन संपूर्ण हो गया है। उसके जाने, मिगेल उसकी सहायता से छूट गया है, अमरीका चला गया है, आकर क्यूबा को स्वाधीन और सुशासित कर गया है। इसके अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता-क्या उसने अपना सब कुछ इसी उद्देश्य से नहीं दे दिया?

विधवा मेरिया! तेरी फूटी आँखें; फूटी बुद्धि, फूटे भाग्य! चलो दोनों, देखो, संपूर्णता से भी आगे कुछ है...

गली से सड़क, सड़क से चौरहे पर आकर वे एकाएक रुक गई हैं।

चौराहे के आगे ही हवाना महल के सामने का खुला मैदान है। वहाँ बहुत-सी भीड़ इकट्ठी हो रही है, इकट्ठी हो चुकी है, और फिर भी लोग सब ओर से धँसे चले आ रहे हैं। कोई कुछ कर नहीं रहा—क्रांति में कौन क्या करता है?—पर सब धँसे आ रहे हैं, मानो स्वाधीनता यहीं बिखरी पड़ी है और वे उसे बटोरकर ले जायँगे। और कोई जानता नहीं कि वे किस लिए वहाँ आ रहे हैं, केवल और लोगों के उपस्थित होने के कारण वे भी यहाँ आ जुटते हैं—

यहाँ क्या होगा ? कुछ नहीं होगा, मानवता अपनी मूर्खता का प्रदर्शन अपने ही को करेगी, और फिर फेंककर स्वयं लौट जायगी। या अपने ही से पिटी हुई—सब लोग कहेंगे कि क्रांति सफल हो गई; या दूसरों से--सब लोग जानेंगे कि प्रतिक्रांति की जीत रही। और दोनों अवस्थाओं में वे उस ध्येय को नहीं पायेंगे, जिसके लिए उसमें अशांति उठ रही थी--क्यों अभी उनमें उसे प्राप्त करने की शक्ति नहीं है। वे स्वाधीनता के किसी एक नाम से दासता का कोई एक नया रूप ले जायँगे!

मेरिया स्तिमित-सी होकर खड़ी देख रही है। ये सब भाव उसके हृदय में से होकर दौड़े जा रहे हैं। उसका व्यथा से निर्मल हुआ अंतर बहुत दूर भविष्य को भेदकर देख रहा है, यद्यपि वह वर्त्तमान नहीं देख पाता। उसके मन में एक निराश प्रश्न उठ रहा है, जिसे वह कह नहीं सकती; एक प्रकांड संशय, जिसका वह कारण नहीं समझती। उसका हृदय एकाएक रोने लगा है, यद्यपि वह यही जानती है कि उसे इस समय आह्लाद से भर जाना चाहिए, इस नवल प्रभात में जब उसका देश जागकर स्वतंत्र हो रहा है।...

एक थी कैसेंड्रा जिसकी दिव्य दृष्टि अभिशप्त थी; जिसके फलस्वरूप उसकी भविष्यद्वाणी का कोई विश्वास नहीं करता था...एक है मेरिया, जो इतनी अभिशप्त है कि स्वयं ही अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं कर पाती...उसे कुछ समझ ही नहीं आता, वह पागल की तरह देख रही है—

नहीं; तो वह तो सफल हो चुकी है, संपूर्ण हो चुकी है, उसे अब क्या ? वह तो सन्तुष्ट है, प्रसन्न है!

वह मुड़कर, कार्मेन को आँखों से खोजती है। कार्मेन उससे कुछ ही दूरी पर खड़ी किसी से बात कर रही है।

क्या कह रही है ? उस व्यक्ति को सुनाकर कार्ल मार्क्स के कुछ वाक्य दुहरा रही है, जिसे उन दोनों ने इकट्ठे पढ़ा था और मेरिया को अनुभव होता है, कार्मेन प्रयत्न कर रही है कि उन वाक्यों को मेरिया की तरह बोले...वह व्यक्ति उपेक्षा से, तिरस्कार से, शायद क्रोध से या भय से या किसी मिश्रित भाव से सुन रहा है, क्योंकि वह मैकाडो की पुलिस का आदमी है, (होने दो!) कार्मेन की ध्वनि सुनकर मेरिया आनंद और आह्लाद से भर जाती है, उसका सारा निराशावाद और असन्तोष निकल जाता है...क्या हुआ यदि वह कुछ नहीं है, वह कुछ

नहीं पा सकी, वह रोती रही, वह अनाथिनी, अभागी वंचिता रही है? उसके दो हैं, जो ऐसे नहीं, और उसी के कारण ऐसे नहीं—कार्मेन और मिगेल...कार्मेन, जिसे उसने सुखी रखा है और जो उसके पास खड़ी है; मिगेल, जिसे उसने छुड़ाया है और जो इस समय अमरीका के पथ पर होगा...तो, स्वतंत्र, स्वाधीन क्यूबा, तुझे मेरे ये उपहार हैं; और मेरा जीवन अब सफल और सम्पूर्ण हो चुका है—

मेरिया का गला घुटता है, वह चीख भी नहीं सकती, झपटती है—

उस व्यक्ति ने जेब से रिवाल्वर निकालकर कार्मेन पर गोली चला दी है, कार्मेन बिना कुछ बोले, बिना खींची हुई साँस को छोड़े भी, ढेर हो गई है...

७

वहाँ, उसके आसपास, एक छोटा-सा घेरा खाली हो गया है।

वह उसके मध्ये में खड़ी है। वह एक स्वप्न में आई थी, एक स्वप्न में झुकी थी, अब एक स्वप्न में खड़ी है। एक मरा हुआ स्वप्न उसकी बाँह से लटक रहा है; मरा हुआ किंतु रक्त-रंजित, अभी गर्म...और उसकी दूसरी बाँह उसके सिर पर धरी हुई है, मानो सिर से कह रही हो—'ठहर, अभी यहीं रह।'

कहीं से, उसी व्यक्ति की कर्कश हँसी सुन पड़ती है, पर सहमी हुई भीड़ में कोई नहीं है, जो इस समय भी उसे चुप करा दे! और मेरिया के सिर पर से तूफान बहा जा रहा है, निःशब्द भैरव, निरीह तूफान...पर उसका सिर झुका नहीं, उसकी आँखे झपकीं नहीं। वह स्थिर, शून्य, जड़-स्वप्न-दृष्टि से सामने देख रही है, नींद में भीड़ के मुखों में कुछ पढ़ रही है, उन मुखों में लगी हुई आँखों में, जो उसकी बाँह से लटकते अभी तक गर्म-रक्त-रंजित स्वप्न को देख रही हैं, किन्तु जो मेरिया की फटी आँखों से मिलती नहीं...

मेरिया टूट गई है, पर अभी जीती है और सामने देख रही है...सामने जहाँ भीड़ स्तब्ध हो रही है...

यह सब क्षण-भर में—क्षण भर तक! तब भीड़ में कुछ फैलता है, जो भय से हजार गुना त्वरगामी जान पड़ता है, और भीड़ भागती है—इधर-उधर, जिधर हो...कहाँ को, न-जाने किससे, न जाने; पर यहाँ से कहीं अन्यत्र, इस स्वप्निल स्त्री-रूप की छाया से बाहर कहीं भी, जहाँ संसार का अस्तित्व हो ..

स्वप्न टूटता है। मेरिया उस भगदड़ में देखती है—एक भूखा, लँगड़ा, अधनंगा शरीर, एक प्यासा, थका हुआ, व्यथित मुख, जो उसके देखते-देखते क्षणभर में ही अत्यन्त आह्लाद और अत्यन्त पीड़ा में चमक उठता है—और खो जाता है।

मेरिया एक हाथ से कार्मेन को उठाये है—उसका दूसरा हाथ आगे बढ़ता है, मानो सहारे के लिए। ओंठ कुछ उठकर खुलते हैं, मानो पुकार के लिए—

और मिगेल के लड़खड़ाकर गिरे हुए शरीर को रौंदती हुई भीड़ चली जाती है, चली जाती है, चली जाती है...

इसका भी अन्त होगा! सभी कुछ का अन्त होगा। और नयी चीजें होंगी, जो इससे विभिन्न होंगी। अच्छी हों, बुरी हों, ऐसी तो नहीं होंगी! वह देश के अमर शहीदों में से होगी या अपमानित परित्यक्ता वेश्या, सब एक ही बात है—ऐसी तो नहीं होगी, ऐसे खड़ी तो नहीं रहेगी...

जैसे अब खड़ी है। एक हाथ से कार्मेन का शव लटक रहा है, और दूसरा मानो सहारे के लिए आगे बढ़ा है; शरीर और मुँह एक दर्प से उठा हुआ है, जो टूटता भी नहीं; आँख एक भावातिरेक को लेकर भरी हुई है; और यह चित्र मानो शब्दहीन, रक्तहीन, जीवहीन, अत्यन्त श्वेत पत्थर का खिंचा हुआ उस जनहीन मैदान में खड़ा है...

वह क्या, किसी कुछ का संकेत नहीं है—कुछ नश्वर, कुछ अमर; कुछ अच्छा, कुछ बुरा; कुछ सच्चा, कुछ झूठा; कुछ मूक, कुछ व्यंजक; कुछ अतिशय विकराल...

एक हाथ पर मरे हुए प्रेम का बोझ लिये, दूसरे हाथ से किसी चिरविस्मृत मृत प्रेम की भीड़ में से बुझती हुई, आँखों से भव को फाड़ती हुई, एक prophetic पीड़ा...

घोड़े गुजर जाते हैं। मनुष्य गुजर जाते हैं। भीड़ गुजर जाती है। प्रमाद गुजर जाता है। पर आशा—आशा—Tragedy, भूख—भूख रिक्तता, वेदना—वेदना—पराजय, बिखरी हुई प्रतिज्ञाएँ, यह है क्रांति की गति, प्रलय-लहरी क्यूबा में—जैसे वह अन्यत्र गुजरी है, जैसे वह सर्वत्र गुजरेगी—विद्रोह...

किन्तु कोई जानता नहीं। कोई देखता नहीं। कोई सुनता नहीं। कोई समझता नहीं। मेरिया की अनझिप आँखें—कैसेंड्रा का अभिशाप...

कोठरी की बात

मुझ पर किसी ने कभी दया नहीं की, किन्तु मैं बहुतों पर दया करती आई हूँ। मेरे लिए कभी कोई नहीं रोया, किन्तु मैंने कितनों के लिए आँसू बहाये हैं, ठण्ढे, कठोर, पत्थर के आँसू...

किन्तु इसके विपरीत, कितने ही भावुक व्यक्तियों ने मेरे विषय में काव्य रचे हैं, कितने ही मेरे ध्यान में तन्मय हो गये हैं, पर मैं कभी किसी की ओर आकर्षित नहीं हुई, मेरी भावना किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में नहीं बँधी, मुझे कभी आत्मविस्मृति और तन्मयता का अनुभव नहीं हुआ।

क्योंकि मैं सदा दूसरों पर विचार करती आई हूँ; और मेरा निर्णय, मेरा न्याय, सदा ही कठोर रहा है; यद्यपि पक्षपात-पूर्ण नहीं, नपा-तुला रहा है; पर दया से विकृत नहीं...

मुझमें जीवन नहीं है, किन्तु मैं जीवन देने की उतनी ही क्षमता रखती हूँ जितनी उसे छीन लेने की, विनष्ट करने की। मेरा काम है तोड़ना; मेरा आविष्कार ही इसलिए हुआ; किन्तु जब मैं बनाती हूँ, तब जो कुछ मैं बनाती हूँ, वह अखण्ड और अजेय होता है। मैं स्वयं पत्थर की हूँ, वज्रहृदया हूँ, इसलिए मेरी रचनाएँ भी वज्र की resistance रखनेवाली होती हैं...

मैं हूँ एक नगण्य वस्तु, सभ्यता के विकास का एक बड़े यत्न से छिपाया हुआ उच्छिष्ट अंश, जो उसी सभ्यता में अपनी कुढ़न के अत्यंत अकिञ्चन कीटाणु फैलाता जाता है—बिना जाने ही नहीं बल्कि जान-बूझकर अपने से छिपाये गये साधनों द्वारा, चुपचाप, चोरी-चोरी किसी भावी, व्यापक, चिरन्तन, घोर आतंकमय जीवन-विस्फोट के लिए...

मैं हूँ युक्ति का साधन एक बन्धन—मैं संसार के किसी भी राज्य के किसी भी जेल की एक छोटी-सी कोठरी हूँ...

× × ×

मैं जहाँ हूँ, वहाँ से कभी हिली नहीं। एक बार, कभी किसी ने मुझे बना दिया था, तब से मैं वैसी ही चली आ रही हूँ। कभी-कभी लोग आकर मेरे अलंकार-भूषण बदल जाते हैं अवश्य; मुझे नयी कड़ियाँ,

नयी शृङ्खलाएं और नये पट दे जाते हैं, मेरे मुख और वक्ष पर नया आलेप कर जाते हैं, पर इससे मौलिक और प्रत्यय एकरूपता नहीं बदलतीं—वैसे ही जैसे स्त्री के आचरण और अलंकार बदल देने पर भी उसका आत्यन्तिक रूप वही रहता है...पर, ऐसा होते हुए भी मैंने दुनियाँ देखी है और देखती हूँ, दुनियाँ के अनुभव सुने हैं और सुनती हूँ, और इसके अतिरिक्त, अपने प्रगाढ़ अकेलेपन में मैंने एक और शक्ति पाई है—मैं आत्माएं पढ़ती हूँ। मेरे पास जो आता है, मैं उसे आर-पार देख, पढ़ और समझ लेती हूँ...

कभी सोचती हूँ, मेरा जीवन एक निष्प्राण पत्थर की बनी हुई वार-वधू का-सा है; क्योंकि मेरे अपने स्थान से टले बिना ही अनेकों लोग मेरे पास से हो जाते हैं, अपना गूढ़तम निजत्व मुझ पर व्यक्त कर जाते हैं, और लुटकर, कुछ सीखकर, अवश्य पुनः आने का, या कभी फिर आने का नाम न लेने का निश्चय करके चले जाते हैं; और मैं अपना वही अपरिवर्तित अनन्त-यौवन लिये, उसी भाँति निर्लिप्त और अजेय और सम्पूर्णतः अनासक्त, उन्हें जाने देती हूँ और अग्रिम आगन्तुक की प्रतीक्षा करने लग जाती हूँ...

और जब याद आता है कि किसी भी नवागन्तुक के लिए मुझे सजाया और साफ किया जाता है, मेरा प्रत्यंचा धोया और अलिप्त किया जाता है; मेरे धातु के आभूषण चमकाये जाते हैं और जब प्रति सन्ध्या को आकर मेरे कपाट और ताले खड़काकर मानो घोषित करते हैं कि 'वस्तु अच्छी है' तब तो मुझे स्वयं यह विश्वास हो जाता है कि मैं वार-वधू ही हूँ और मैं लज्जा से सकुचा जाती हूँ; कुण्ठित होकर पहले से भी अधिक छोटी और घिरी हुई जान पड़ने लगती हूँ, मेरा दम घुटने लगता है...तभी तो कभी-कभी मेरे कैदियों को एकाएक ध्यान आ जाता है कि वे बद्ध हैं, या कि उनके बन्धन एकाएक अधिक संकुचित और कठोर हो 'गया' कर डालने के लिए तड़फड़ाने लगते हैं...

कभी सोचा करती हूँ, मेरा आदिम पिता, मेरा अत्यन्त पूर्वज, कौन था? क्योंकि कोई व्यक्ति यदि संसार की कुत्सा और घृणा का पात्र है तो वही...तब जान पड़ता है कि मेरा एकमात्र सम्भव आदिम निर्माता स्वयं ईश्वर है [यदि वह है तो] क्योंकि मैं अत्यन्त प्राचीन काल से किसी-न-किसी रूप में आकार, प्रत्येक अनुभूति, मेरा ही कोई

छिपा हुआ या विकृत रूप है...मैं ही वह आदिम समुद्र था जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई, मैं ही ईडन-उद्यान की परिमा थी, मैं ही उस आदिम धूम्रपुञ्ज का आकार थी जिससे तारे, ग्रह, नक्षत्र और अन्य भौतिक आकार उत्पन्न हुए...यदि संसार पहले प्रजा और माया थीं; तब मैं माया का अन्धकार थी, यदि पहले आलोक और अन्धकार थे, तो मैं अन्धकार की गरिमा थी; यदि ईश्वर ने पहले-पहल लिलिथ के काञ्चनाकचों की एक लट थी जिसके द्वारा वह युवकों के हृदय बाँधती और घोंट देती थी...

* * *

किन्तु ये सब विचार मिथ्या हैं, आत्म-प्रवञ्चना है! मैं वास्तव में कुछ नहीं हूँ; केवल एक convention एक मिथ्या डर, ज्यामिति के आकारों की भाँति एक काल्पनिक रेख-जाल जिसे समाज ने पत्थर में खींच दिया है...यही मेरे अन्तर्विरोध का हाल है। मैं कुचलती हूँ तो उद्दीप्त भी करती हूँ; दबाती हूँ तो स्वयं उपेक्षित भी होती हूँ; आतंक फैलाती हूँ तो पराजित भी होती हूँ...मैं सब कुछ हूँ जो लोग मुझे बना देते हैं; और वास्तव में मैं हूँ 'कुछ' अपरिवर्तित, तुषारशीतल, निष्प्राण...

मैं बाँधती हूँ, पर निष्क्रिय रहकर, न्याय करती हूँ तो निरीह होकर। मैं चुप रहती हूँ—पर कभी-कभी उस मौन के विरुद्ध किस प्रकार मेरा सारा अस्तित्व उठ खड़ा होता है। तब चुप रहना मुझे स्वयं चुभता है, सालता है, मैं चाहती हूँ कि फटकर खुल जाऊँ, एक मार्ग बना दूँ, पर कहाँ...मैं रो भी नहीं सकती और यही सोचकर और भी रोना आता है—कि मैं रोने से वञ्चित इसलिए हूँ कि मेरी सम्पूर्णता ही एक जड़ीभूत, प्रस्तर-खचित आँसू है!

इस विक्षोभ से मेरे कहाँ-कहाँ घाव हो गये हैं...और इतने कि मैं गिना भी न सकूँ, न इंगित कर सकूँ। घाव की स्थिति तो तब बताई जा सके जब उसकी वेदना की कोई सीमा हो। वह तो इतनी फैली हुई है कि सर्वत्र एक ही घाव की पीड़ा जान पड़ती है...

पर, बिना स्थिति बता सकने के भी, मुझे कभी-कभी याद आ जाता है कि कैसे कभी कहीं कोई घाव हुआ था...और तब फिर मैं सोचने लगती हूँ...

* * *

यह वेदना क्यों होती है? मैं काम करके थक जाती हूँ पर याद

नहीं आता कि यह कब से होने लगी और कैसे...संसार की बहुत-सी वेदनाएँ इसी प्रकार की होती हैं। जब कोई आत्मीय मरता है, तब हम उसे याद करके रोते हैं, पर शीघ्र ही आत्मीय की स्मृति तो खो जाती है, किन्तु एक कोमल-सी कसक रह जाती है। हम रोते रहते हैं, पर पीड़ा के उद्रेक से नहीं, केवल अभ्यास के वश...और फिर, ये वेदनाएँ लुप्त भी इसी भाँति हो जाती हैं। तब हमें उनकी सत्यता में ही सन्देह होने लगता है। जिस प्रकार मूल कारण के लुप्त हो जाने के बाद भी पीड़ा की अनुभूति रह जाती है, उसी प्रकार पीड़ा के लुप्त हो जाने के बाद भी हमारे मन में उसकी भावना देर तक रहती है, जैसे लम्बी यात्रा के बाद जहाज से उतरने पर भूमि डगमगाती हुई जान पड़ती है। जब हमें ध्यान होता है कि भूमि नहीं डगमगा रही है, केवल अभ्यास का भ्रम है; तब हम जहाज के डगमगाने का भी भ्रम समझने लगते हैं। उसी भाँति, जब हमें एक दिन ज्ञात होता है कि जिस पीड़ा की अनुभूति से हम रो रहे हैं, वह चिरकाल से वहाँ नहीं है, तब हमें इस बात में ही सन्देह होने लगता है कि वह कभी थी भी...

पर—

यह मानव-हृदय की कमजोरी है, या सभ्यता से उत्पन्न एक गहरा विषन्न pessimism या पीड़ा की व्यापकता और सार्वजनिक अनुभूति की जहाँ हम आनन्द को एक भंगुर भावना मानते हैं, वह पीड़ा को अवश्यम्भावी और चिरन्तन समझते हैं...

मुझे याद आता है...

पर, उसे कहने के पहले, यह कहूँ कि म कहाँ हूँ, कैसी हूँ, और मेरे पास-पड़ोस में कौन है...

मैं अन्धी हूँ, मुझे साधारण दृष्टि से कुछ नहीं दीखता। इसीलिए, साधारण वस्तुओं के साधारण landscape का वर्णन मैं नहीं कर सकती...मुझे दीखती हैं, विभिन्न आकारों के किसी...श्याम आवरण में लिपटी हुई आत्माएँ—जिन्हें आकार-भेद के अनुसार हम विभिन्न नाम देते हैं...

मेरे तीन ओर मुझ-सी ही अनेक कोठरियाँ हैं, और चौथी ओर एक ऊँचा परकोटा जिसकी आत्मा मानो विद्रूप से हँस रही है ..और इसके बाहर विस्तृत मरु जिसमें कहीं-कहीं सरकण्डे का एकाध झुर-

मुट, कहीं करील की एक सूखी-सी झाड़ी, या कहीं दो-चार खजूर खड़े हैं, ऐसी मुद्रा में मानो मरु से कह रहे हों, 'हम दीन हैं, पर झुकते नहीं; हम झुकते नहीं, पर अत्यंन्त दीन और दुखी हैं...' ग्रीष्म में, जब यहाँ उत्तप्त लू बहती है, रेत उड़-उड़कर खजूरों से उलझती है, मानो मरु ने उन दीनों को कुचलने के लिए सेना भेजी हो। तब कुछ उत्तप्त कण आकर मेरे आश्रित कैदी को भी झुलसाते हैं, वैसे ही जैसे रणोन्मत्त सैनिक प्रतिद्वन्दी के पास-पड़ोस में बसे हुए लोगों का भी विनाश कर देते हैं, क्योंकि विनाश-भावना औचित्य नहीं देखती...तब मैं स्वयं आहत होकर अपने आश्रित की रक्षा करती हूँ। मेरा शरीर लू की तपन से नहीं, अपने आन्तरिक विक्षोभ से उत्तप्त हो जाता है, और मैं उद्देश्य-भ्रष्ट हो जाती हूँ—अपने आश्रित का भला करने की भावना लेकर भी उसके अनिष्ट का साधन होती हूँ...और शीतकाल में...किन्तु शीत और ग्रीष्म केवल मात्रा के भेद हैं, हम सब रहते तो वही हैं और हमारे परस्पर सम्बन्ध भी...यदि चंद्रमा आकाश में आकर, मेरे बालरूप पर अपनी सम्मोहिनी ज्योत्स्ना का आवरण डालकर, मुझे सुन्दर और आकर्षक तक बना देता है, तो क्या इससे मैं कोठरी नहीं रहती? क्या मैं उसी प्रकार लोगों को बाँधती और तोड़ती नहीं?...और मेरे इन दो-चार सीखचों को बाहर विस्तीर्ण अकाश या प्रच्छन्न मेघमण्डल होने से क्या मेरे बन्धन ढीले या अधिक कठिन हो जाते हैं? क्या दृष्टि की सीमा, या अन्य इन्द्रियों की सीमा ही प्राणी की, गुणानुभूति की सीमा है?...

हाँ तो, मुझे याद आता है...

* * *

वह बहुत पुरानी बात है—मेरी बाल्य-स्मृतियों में से एक...यद्यपि उससे पहले मेरे पास कई लोग आ चुके थे, यद्यपि उसमें कुछ था जिसने एकाएक मुझे चौंका दिया, जिसमें मैंने कुछ देखा जिसके कारण मैं उसे भूल नहीं सकी...उसके पहले एक ऐसा आया था जो मानो किसी के प्राण उधार लेकर आया था। इसे प्राणों का कोई मूल्य नहीं था—वीरोचित उपेक्षा के कारण नहीं, किसी गूढ़ अक्षमता के कारण, जीवन-शक्ति के किसी भीतरी उपघात paralysis के कारण...यह उन व्यक्तियों में से था जो कुछ भी कर सकते हैं, किन्तु अपनी प्रेरणा से नहीं, सक्रिय होकर नहीं, केवल कालगति के पुतले बनकर...इनमें अपनी

नीति, अपना आचार, अपना चारित्र्य, कुछ नहीं होता, वे मानो जीवन-ज्वार पर तैरते हुए घास-फूस होते हैं। उन्हें अपने किसी कार्य के लिए दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता और क्षमा भी नहीं किया जा सकता। वे स्वयं कुछ भी नहीं करते, किन्तु समाज के सच्चे शत्रु वही होते हैं... इनमें आरम्भ में तो थोड़ी-बहुत अनुभूति होती है, शायद वे कभी-कभी यह भी देखते हैं कि वे किधर बहे जा रहे हैं, पर इस ज्ञान के पीछे बदलने की प्रेरणा नहीं होती। वे देखकर खिन्न हो लेते हैं, और फिर, उसी खेद की प्रतिक्रिया में पहले से अधिक गिर जाते हैं, और यह प्रक्रिया बराबर होती रहती है, तबतक जबतक कि उनमें यह अनुभूति भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाती, और वे बिलकुल पाषाण-हृदय नहीं हो जाते...

और एक और भी आया था...जिसे भूलना ही क्षमा है, और जिसकी स्मृति उसका सबसे बड़ा दण्ड है, क्योंकि वह ambitious था; संसार पर अपनी छाप बिठाना चाहता था; पर उसके लिए जो त्याग करना पड़ता, उससे घबराता था...ambition ने उसे विद्रोह की ओर प्रेरित किया था, किन्तु जब ambition ने उसी विद्रोह का मूल्य उससे माँगा, तब उसने न केवल अपने किये को ही विनष्ट किया, प्रत्युत औरों के भी, जो कि ambitious न होकर भी त्याग करने को तैयार थे....वह अपना पुरस्कार यह समझता था कि वह लोगों की स्मृति में जीवित रहे, किन्तु आज उसे याद रखना उसकी सत्यता को याद रखना, उसका सबसे बड़ा दण्ड है...

किन्तु मैं उसे याद रखने का यत्न करना नहीं चाहती। वह संसार का कार्य है, जो दण्ड देता है। मैं दण्ड नहीं देती, न पुरस्कार देती हूँ। मैं केवल विचार करती हूँ, निर्णय घोषित करके रह जाती हूँ...ये व्यक्ति आते हैं और मेरे वज्र-वक्ष पर बनते या टूटते, हैं, और मैं संसार को जता देती हूँ कि उन पर क्या हुआ....मैं उनके भग्नावशेषों को पुनः जोड़ती नहीं, उन्हें छिपाती भी नहीं....

जिससे याद करती हूँ, उसकी बात कहूँ...

परिमाएँ, बन्धन, बहुत व्यक्तियों को अधोगामी बनाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो उसकी स्फूर्तिदायिनी उत्तेजना के बिना जी ही नहीं सकते....जिसकी मैं बात कहने लगी हूँ, वह इससे दूसरी श्रेणी में था... उसका नाम था सुशील। इस नाम से यह नहीं सिद्ध होता कि उसमें शील का आधिक्य या न्यूनता थी, यह केवल यही जनाता है कि उसके

पिता को शील की आवश्यकता थी। वे क्रोधी, सहसा बिगड़ उठनेवाले और सहसा ही शान्त हो जानेवाले, प्रायः संसार के प्रति एक विक्षुब्ध चिड़चिड़ापन लिये किन्तु कभी-कभी अत्यन्त प्रसन्न; साधारणतः अपनी सन्तान की उपेक्षापूर्ण सीमा में बाँधकर रखनेवाले, किन्तु कभी-कभी, या किसी-किसी सम्बन्ध में, बहुत स्वच्छन्दता दे देनेवाले या छीन लेनेवाले व्यक्ति थे....सम्भवतः उनका मन उन्हें कोसा करता था कि उनमें गम्भीरता की, एकरूप शील की, कमी है, और इसी लिए उन्होंने उसका नाम सुशील रखा था....हम सभी अपनी न्यूनता को अपनी कृतियों द्वारा छिपाने की चेष्टा करते हैं....

सुशील स्वभावतः विद्रोही था। किन्तु जो 'स्वभावतः विद्रोही' होते हैं, उनकी विद्रोह-चेष्टा बौद्धिक नहीं होती; उसका मूलोद्भव एक भावुकता से होता है। कभी वह भावुकता बौद्धिक विद्रोह से परिपुष्ट भी होती है। तब वह विद्रोही अपनी छाया देश और काल पर बिठा जाता है। पर बहुधा ऐसा नहीं होता, बहुधा भावुक विद्रोही समय के किसी बवण्डर में फँसकर खो जाते हैं—क्योंकि भावुकता स्वयं एक बवण्डर है....हाँ, तो सुशील अपने घर के नियमित अत्याचार से और अनियमित आकस्मिक दुलार में, अधिकाधिक विद्रोही होता जाता था; क्योंकि घर का वातावरण उसे स्थैर्य नहीं देता था, बल्कि ज्वालामुखी-सी एक विस्फोटक निश्चेष्टा...जो एक दिन फूट पड़ी; सुशील घर से भाग निकला, और इधर-उधर कुछ सच्चे-झूठे विद्रोहियों में फँसकर मेरे पास आ गया...

लोग समझते हैं कि जो नवयुवक जेल में आते हैं, वे स्वेच्छा से, एक बौद्धिक प्रेरणा से आते हैं,...झूठ! वे आते हैं एक अनिवार्यता के वश, जिसपर उनका किञ्चिन्मात्र भी नियन्त्रण नहीं है। अगर कोई प्रौढ़ व्यक्ति आवे, तब तो यह बात सम्भव है। किन्तु युवकों के आने का कारण, उनका आवाहन करनेवाली प्रेरणा, उनके मस्तिष्क से नहीं आती! वह आती है एक अज्ञात मार्ग द्वारा, और आती है उन युवकों के घरों से, माता-पिता से और उनकी परिस्थिति से, उनके समाज की उनसे मिलनेवाली (या बहुधा न मिलनेवाली) स्त्रियों से—विशेषतः उनकी बहनों से...सुशील से कोई पूछता, कि वह क्यों विद्रोही हुआ, उससे तर्क करता कि उसका मार्ग लाभकर नहीं है, तो उसकी बुद्धि शायद इसका समुचित उत्तर न दे पाती। किन्तु उसका हृदय अवश्य पुकार

उठता—नहीं! मैंने इस मार्ग का ग्रहण इसलिए नहीं किया कि यह अधिक लाभकर है, प्रत्युत् इसलिए कि मेरे वास्ते और कोई मार्ग है ही नहीं....यदि मेरे कार्य से देश को लाभ होता है, तो अच्छा है, पर मैंने यह मार्ग इसलिए नहीं ग्रहण किया। मैं यदि विद्रोही हूँ तो इसीलिए कि मेरी प्रकृति यह माँगती है, मेरी जीवन-शक्ति की वही निष्पत्ति(fulfilment) है...' और उसके हृदय का कथन बिल्कुल सच होता...मैं जानती हूँ! मैं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखती हूँ—उसके जीवन के कुछ एक दिन—कुछ एक क्षण....एक वह क्षण जिसमें उसकी विस्फारित आँखें रात में दिये के प्रकाश से, उसके माता-पिता के बीच एक छोटे-से, अत्यन्त प्राचीन, अत्यन्त साधारण किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय दृश्य को देखती हैं—अच्छी आँखें, क्योंकि वे मन के पट पर जो कुछ लिखती हैं, मन उसे पढ़ नहीं पाता।...वह लिखावट उसी भाँति मन के एक कोने में पड़ी रहती है जैसे किसी पुरातत्त्ववेत्ता के दफ़्तर में कोई ताम्रपट, जिसकी लिपि से वह अभ्यस्त नहीं है, और जिसे किसी दिन वह एक कोष की, और अन्य लिपियों की सहायता से एकाएक पढ़ लेता है... फिर एक वह क्षण जब वह और उसकी बहिन पास पास लेटे हुए किसी विचार में निमग्न हैं—शायद अपने उस सभी तत्त्व के पवित्र, रहस्यमय सुख में, और जब उसके पिता एकाएक आकर उसे उठा देते हैं, फटकारते हैं कि वह अपनी बहिन के पास क्यों लेटा है, और एक ऐसी क्रुद्ध, सन्देहपूर्ण, जुगुप्सा-मिश्रित ईर्ष्यावाली, और इतनी विषाक्त दृष्टि से उनकी ओर देखते हैं कि उसके मन में कोई परदा फट जाता है, उसे एक कोष मिल जाता है, जिससे पहला दृश्य भी सुलझ जाता है, और अन्य अनेकों दृश्य और शब्द और विचार अपना रहस्य सहसा उस पर बिखरा देते हैं, जिनके बोझ से वह दब जाता है, जिनकी तीखी गंध से उसका मानसिक वातावरण असह्य हो उठता है, और वह एक अँधेरे कोने में बैठकर रोता है और निश्चय करता है कि अब कभी बहिन के पास खड़ा भी नहीं होऊँगा...और वह क्षण जब यह देखकर कि उसकी बहिन ने भी ऐसा ही निश्चय किया है, और बहिन की अकथ्य मर्म-व्यथा समझकर, वह एक साथ ही असह्य और उसका निश्चय तोड़कर उसके गले लिपटकर रोता है और उसे भी रुलाता है...और वह क्षण—पर ये तीन क्षण ही प्रखर प्रकाशक हैं, किसी व्यक्ति का इतना

जीवन देखकर ही मैं उसके जीवन का इतिहास लिख सकती हूँ—उसके जीवन की घटनाओं का नहीं, समूचे जीवन का, उसकी प्रगति का, मानसिक प्रेरणाओं का, उसके उद्देश्य का...

जब वह मेरे पास आया था, तब उसे पक्का निश्चय था कि उसके जीवन के कुछ एक दिन बाक़ी रह गये हैं; किन्तु उसे फाँसी नहीं मिली.... तब धीरे-धीरे, जो शक्ति उसे ढकेलकर वहाँ तक लाई थी, वह बिखर गई, उसका स्थान लिया एक विक्षोभ ने, एक थकान ने, एक अश्रुहीन उद्रेकहीन रुआँसेपन ने, जिसमें कभी-कभी तूफ़ान की तरह एक पागलपन आ जाता। यह पागलपन मानो उसके जीवन का आधार था, उसकी परिवर्त्तनहीन समरूपता को तोड़कर कुछ दिन के लिए उसे शान्त कर देता था...यानी अशान्त कर देता था—क्योंकि जीवन और अशान्ति एक ही क्रिया के दो नाम हैं। शान्ति तो उस तूफान के पहले होती थी—जब वह बिलकुल ही निर्लिप्त, बिलकुल निरीह, एक गतिमान अचेतना-सा हो जाता था, शिथिल (unresisting) किन्तु घातक, जैसे दलदल ....उस तूफ़ान में वह उन्मत्त होकर मेरे वक्ष पर सिर पटक-पटककर कहता था, मैं पागल हो जाऊँ! पागल हो जाऊँ! यदि मैं इस जीती मृत्यु से नहीं बच सकता, तो इसकी अनुभूति ही नष्ट हो जाय! शरीर को जितने कष्ट मिलें, मिलें; आत्मा को पीड़ा अच्छा ही है; पर इस नीरस विशेष शून्यता (monotony) का अनुभव करनेवाली मनःशक्ति मर जाय! मर जाय! मर जाय।' पर, व्यथा पर यदि विचार किया जाय, तो वह भी कुछ पिघल जाती है...वह इस बात को समझता था कि उसके असह्य कष्ट का कारण जीवन का विशेषाभाव है, और इसी समय के कारण वह उसके आगे टूटता नहीं था....Thought made him suffer, but suffering made him think.

चिन्तन से उसे पीड़ा होती थी, किन्तु पीड़ा उसे चिन्तन का आधार देती थी...

Think...और इसीलिए वह पागल नहीं हुआ....इसीलिए, जब वह तूफ़ान आकर, उसे अशान्त करके चला जाता था, तब वह उन्मत्त दानव की भाँति उस छोटी-सी कोठरी में टहलने लगता था—एक सिरे से दूसरे सिरे तक; एक, दो, तीन, चार, पाँच कदम, फिर वापस, एक, दो तीन, चार, पांच, फिर लौटकर एक, दो, तीन....और इसी तरह वह सारी

रात बिता देता। तब उसकी टांगें थक जातीं और वह एकाएक रुककर भूमि पर बैठ जाता, और चुपचाप मन-ही-मन रोने या कविता करने लगता.... उसका एक शब्द भी बाहर नहीं निकलता। एक छाया भी उसके मुख पर व्यक्त नहीं होती, वह मानो किसी अदृश्य समुद्र के भाटे की भाँति धीरे-धीरे उतर जाती और निश्चल हो जाती—उस समय तक जबतक कि दूसरा तूफ़ान पुनः उसे न उठावे....पर मैं उसे देखती भी थी और सुनती भी थी—केवल मैं ही उसकी नस-नस में उसके प्राणों से भी अधिक अभिन्नता से व्याप्त थी...

वह सोचा करता था...एक चित्र, एक कल्पना...कहीं पर्वत की उपत्यका में, एक काठ का झोपड़ा, एक खुली हुई खिड़की। उसके सामने रीछ का चर्म बिछा हुआ है, जिसके पास चौकी पर वह बैठा है। और उसके आगे चर्म पर बैठी है—कौन ? वह सुशील के घुटने पर सिर टेके हुए है, उसके केश बिथुरे हुए हैं। दोनों स्थिर दृष्टि में सामने बुझती हुई आग को देख रहे हैं। सुशील धीरे-धीरे उसके ललाट पर अपनी ठोडी टेक देता है, और उसके बिथुरे केशों को और भी बिखेरकर, उसमें अपना शीश, अपने स्कन्ध और उसका शीश, सभी लपेट लेता है.... उसका मन कहता है, 'इनके सौरभ में ही खो जाऊँ, इन्हींमें घुँटकर चाहे मर भी जाऊँ....'

यह दृश्य न-जाने सुशील को कैसा कर देता था ! मानो उसे बेधता था ; मानो उसका अप्रतिहत मौन साँय-साँय करके सुशील के कानों में कहता, 'तुम्हारा जीवन कितना सूना है—जैसे रेगिस्तान में अनभ्र अमावास्या की रात ! जिसके तारों का असंख्य अनुपात और अकिञ्चन प्रकाश उसकी शून्यता और आलोकहीनता को दिखाता ही भर है....'

तब फिर वह मेरे कपाट के पास आकर, सीखचों को दोनों हाथों से पकड़कर और भिंची हुई मुट्ठियों पर सिर टेककर बाहर देखने लगता। तब फिर उसका मन भागता—उसके जीवन के गुप्ततम विचारों, भावों और आकांक्षाओं की ओर और मैं फिर उन्हें पढ़ती, चुपचाप....

'आकाश....निर्बाध आकाश....नील, हरित, शुभ्र, श्याम का विस्तीर्ण प्रसार—हा मेरी कल्पना के पर्वत और झरने और शिलाखण्ड और चील के वृक्ष और काही के विस्तार और हा यह लोहे के सीखचों में से दीखता मरु, उसकी सीमा पर धुँधले-से सरकण्डे के झुरमुट नीरस करील

की सूखी हुई कड़ियाँ और यह रुग्ण आकाश !....'

वह निकम्मा था, फिर भी निकम्मा नहीं बैठ सकता था। उसका मन सदा किसी विचार में लगा रहता—कभी भूत की ओर, और कभी भविष्य की; कभी वर्तमान का विश्लेषण करता हुआ, किन्तु सदा निरत....और इस अनवरत चेष्टा का कारण केवल वहाँ का जीवन ही नहीं था, केवल उसका स्वभाव ही नहीं था। मैं, सूक्ष्मदर्शी मैं भी कुछ दिन भुलावे में रही थी, किन्तु अन्त में मैंने देख ही लिया कि उसके भीतर एक और प्रेरणा छिपी है, उसके भीतर कहीं बहुत गहरे तल में, कहीं जहाँ प्रेम का प्रकाश भी नहीं पहुँच पाता....

यह मैंने कैसे जाना ? एक दिन सन्ध्या के समय वह अकेला बैठा था, बिल्कुल शान्त, निश्चल, और बाहर देख रहा था। उस समय सान्ध्य-प्रकाश फीका पड़ चुका था, और उदय होनेवाले चाँद की पीली पूर्व ज्योति रुग्ण न रहकर दीप्तिमान-सी जान पड़ने लगी थी। सुशील बिलकुल शान्त बैठा था, किन्तु मेरे भीतर किसी संज्ञा ने कहा कि जिस प्रकार समुद्र के बहुत नीचे अत्यन्त शीत स्रोत गतिमान होते हैं, उसी भाँति उसके शान्त बाह्यपट के नीचे कुछ दौड़ रहा है....वह शान्ति तल्लीनता की शान्ति थी, इसलिए मैंने चुपचाप प्राणों में झाँककर देखा, बहुत गहराई तक ! इतनी दूर तक कि यदि वह तल्लीन न होता, तो चौंककर प्रातःकुमुद की भाँति एकाएक बन्द हो जाता, छिप जाता, डूब जाता, मुझे अपने हृदय का रहस्य न देखने देता—जो मैंने अनजाने में देख लिया !

सुशील बाहर झाँक रहा था। मरुभूमि के उस फीके पट पर एक छाया चली आ रही थी— मरु को चीरती हुई किसी बादल के टुकड़े की छाया की भाँति—और (सुशील के लिए) उतनी ही निःसत्त्व ! एक घँघरी पहने हुए एक स्त्री, सिर पर एक छोटा-सा मटका और बाँह के नीचे एक टोकरी दाबे...सुशील उसीको देख रहा था, उसका हृदय किसी अज्ञात कारण से धड़क रहा था—बिलकुल निष्काम होकर, उस स्त्री के प्रति बिना कोई भी भाव अच्छा या बुरा धारण किये हुए....

मैं उसे देख रही थी और सब कुछ समझ रही थी। पर, एकाएक उसने मुँह फेर लिया....मैंने सुना (उसके मुख से नहीं, उसके मस्तिष्क के भीतर) 'मेरे लिए कोई आधार आवश्यक है....मेरे सखा-बन्धु सब मर चुके हैं। एक तुम हो, सभी कितनी दूर, अनुपगम्य....और एक है

यह छाया ! मैं तुम्हारी ओर ही उन्मुख हूँ, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि उस छाया के बिना जी नहीं सकता'''फिर थोड़ी देर चुप रहकर, धीरे-धीरे'''गाने लगा—

मिथ्या कथा के बोले ये भोलो नाइ ?
के बोले ये खोलो नाई ?
स्मृतिर पिञ्जर द्वार ?....

मैंने पूछा, यह 'तुम' कौन है ? उसकी मुझे एक झाँकी मिली, जिसमें मैं उसे पहचान नहीं पाई ! शायद सुशील की बहिन, शायद वही नामहीन आकार जिसे लेकर वह बिथुरे बालों की कल्पना करता था, शायद कोई और,...इसलिए मेरी उस प्रश्न-भरी दृष्टि का उत्तर नहीं मिला''''

× × ×

कभी सोचती हूँ, संसार में कभी किसी प्रश्न का उत्तर मिलता भी है ? जो प्रश्न एक बार पूछा जाये, वह क्या कभी भी अपना उत्तर पाकर संपूर्णता में लीन हो सकता है ?

प्रश्न जब पूछा जाता है, तब वह आकाश में फैल जाता है....उसका उत्तर कितनी भी शीघ्रता से दिया जाय, प्रश्न और उत्तर में कुछ अन्तर रह ही जाता है। प्रश्न अबाध गति में अनन्त की ओर बढ़ता जाता है, और उत्तर उसकी गति में उसका पीछा करता जाता है....वे सदा निकट रहते हैं, किन्तु केवल निकट—वे कभी मिलकर और एक होकर सम्पूर्ण, सम्पन्न, समाप्त नहीं होते'''

पर, इसमें शायद जीवन को स्थायित्व, नित्यता मिलती है, शायद इसके कारण ही जीवन की विद्रोह-शक्ति मृत्यु के बाद तक अपरिवर्त्त रहती है, क्योंकि मृत्यु के बाद पकड़ नहीं पाती''''हाँ, तो उस प्रश्न का उत्तर मैंने कभी नहीं पाया। उसके बाद बहुत अवसर भी नहीं मिले। एक दिन मैंने देखा, उसके भीतर कुछ अधिक चहल-पहल है। उस दिन उसने भूख-हड़ताल आरम्भ कर दी...

उसके बाद....उसके हृदय में ऐसे तूफान उठने लगे कि मैं भी घबरा जाती ! मैं जो पत्थर की हूँ, जो अनुभूतिहीन हूँ, मैं उन भावनाओं की चोट नहीं सह सकती, जिन्हें वह लेटा-लेटा नित्यप्रति अपने मन में फेरा करता। कोई एक मास बीत जाने के बाद, कभी-कभी मैं डरते-डरते

उसके कोमलतर विचारों की आहट पाकर, क्षण-भर कान लगाकर सुनती, एक आध अभूतपूर्व उद्भावनाएँ चुरा लेती, अपने वज्रकोष में सञ्चित करके रख लेती....मुझ जैसे प्राणहीन पत्थरों से ही विकास-गति में पड़कर मानव बने हैं, तब किसी दिन मेरे कण-कण के भी बन जायँगे; उन्हीं भविष्य प्राणियों के लिए मैं ये भावनाएँ एकत्र किया करती....

सदियों पहले, जब मैं किसी पहाड़ का एक अंश थी, तब बहुत-से प्राकृतिक दृश्य देखा करती थी, उन्हीं की स्मृति से एक कल्पना मुझे सूझती है। कभी, जब वायु-मण्डल अत्यन्त स्वच्छ होता है, पर आकाश में दो-एक छोटे-छोटे बादल के टुकड़े मँड़रा रहे होते हैं, ऐसी सन्ध्या में सान्ध्य-तारे के आलोक से एक कोमल धवल दीप्तिमण्डल बन जाता है, श्वास की भाँति चञ्चल और स्वप्न की भाँति विचित्र। उसी दीप्तिमण्डल के छाया-नृत्य की भाँति सुशील के मुख पर विचार-विवर्त्तन होता रहता, और मैं उसे देखती।

'मैं क़ैदी हूँ, तीन चार वर्षों से मैंने किसी स्वतन्त्र व्यक्ति का मुख नहीं देखा—ये जेल के कर्मचारी तो मुझसे भी अधिक क़ैद हैं!—और यदि जीता रहा, तो दस वर्ष और नहीं देखूँगा। मैं सब ओर बन्धनो से, सीखचों से पशुबल से घिरा हुआ हूँ। कोई मुझसे मिल नहीं सकता, कोई उससे बात नहीं कर सकता; मैं सदा इन्हीं सीखचों से घिरा और बन्द रहता हूँ।....

'मैं प्राणिमात्र का उपासक हूँ, पर मुझे हिंसावादी कहते हैं। मैं संसार को दबाव और अनुचित प्रभुत्व से मुक्त करना चाहता हूँ, पर मेरा नाम आतंकवादी है।

'मैं जनशक्ति का सेवक हूँ, इसलिए सर्वथा अकेला हूँ।

'इस विराट् षड्यन्त्र के विरुद्ध, अपने अकेलेपन से घिरे हुए मैंने क्या अस्त्र ग्रहण किया है? विस्तीर्ण और दुर्जेय पशुबल से, सूक्ष्म किन्तु अजेय आत्मा की रक्षा के लिए, क्या युक्ति की है?

भूख-हड़ताल!

और फिर, एक दूसरी बार।

'मैं निखिलिस्ट नहीं हूँ, मैं रोमांटिक नहीं हूँ। मुझे आत्मपीड़न में ऐन्द्रिक सुख नहीं मिलता, मुझे गौरव का उन्माद भी नहीं हुआ है। पर मेरी परिस्थिति में एक ऐसी अपरिवर्त्त, तुषारमय, अमोघ अनिवार्यता

है कि मुझे और कोई उपाय सूझता ही नहीं जिससे कुछ लाभ हो सके....

'मैं एक महीने से भूखा हूँ—भूखा तो नहीं हूँ, क्योंकि भूख चार-पाँच दिन में ही मर गई थी—एक महीने से मैंने कुछ नहीं खाया। जब मैंने खाना छोड़ा था, तब भी यही सब सोचकर छोड़ा था, तब भी अपने जीवन का मूल्य आँक लिया था। पर ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, ज्यों-ज्यों जीवन की शक्ति क्षीणतर होती जाती है, त्यों-त्यों उसका ममत्व क्यों बढ़ता जाता है? इस हीन दशा में आकर मुझे जान पड़ता है, मैंने पहले कभी जीवन का अनुभव ही नहीं किया! यद्यपि अब मेरे जीवन में क्या है? दिन में दो बार, बहुत-से क़ैदी और नम्बरदार आकर मेरे क्षीण शरीर पर अपनी शक्ति की परीक्षा करते हैं, डाक्टर मेरे बिस्तर और मुँह पर थोड़ा-सा दूध बिखेर जाता है, और मैं थका हुआ पड़ा रहता हूँ! हाय जीवन!

'पर जब तक हम मरते नहीं, तब तक जीवन नहीं जाता। मैं यहाँ बन्द हूँ, मेरे आसपास सनसनाती हुई शिशिर की हवा बह रही है, पर'

और फिर भी....

'बाहर मैं देख सकता हूँ, अनभ्र आकाश में चन्द्रमा की ज्योति.... दूर पर, शुभ्र आकाश के पट पर श्याम, स्पष्ट और भीमकाय एक सन्तरी खड़ा है, और उसके हाथ की बन्दूक पर लगी हुई संगीन ज्योत्स्ना में चमचमा रही है...लोहे की छड़ों से सीमित मेरे 'अनन्त' आकाश में एक साथ ही दो वस्तुएँ चमक रही हैं—अपर प्रकृति का सर्वोत्तम रत्न, चन्द्रमा, और नीचे, उसका उपहास करती हुई, मानवीय शिल्प की सर्वोत्तम कृति, वह हिंसा का निमित्त, संगीन...

'दूर, जेल की दीवारों से बाहर, मैं देख सकता हूँ एक छोटा-सा ऊजड़ भूमि का टुकड़ा—एक काव्यबद्ध सहरा मरुस्थल...उसके सिरे पर खजूरों के छोटे-से झुरमुट में कहीं से एक क्षीण-सी आवाज रहट चलने की आ रही है; बाहर कहीं लड़के खेल में चिल्ला रहे हैं, और चन्द्रमा के छलिया प्रकाश में मुझे जान पड़ता है कि उस भूमि को पार करती हुई एक बैलगाड़ी जा रही है...और इस सबके ऊपर वह संगीन चमचमा रही है....

'मानवता और प्रकृति एक दूसरे के सामने खड़े हो रहे हैं। मानवता की एक ललकार है, किन्तु उसमें डर का भाव निहित है; प्रकृति का भाव

सम्पूर्ण उपेक्षापूर्ण है, किन्तु उस उपेक्षा में एक कविता, एक प्रशान्त भव्य विराट्त्व है....

बुझते समय दीपक का आलोक सहसा दीप्त हो उठता है, किन्तु दीपक आजीवन उसी प्रखरतर दीप्ति से नहीं जल सकता। मरणासन्न मानव का मानसिक जीवन पहले से अधिक गतिमान् हो जाता है, किन्तु मानव आजीवन उसी तल पर नहीं रह सकता। एक दिन सुशील बेहोश हो गया, और बहुत देर तक रहा....जब उसे होश हुआ, तब उसने जाना कि अब उसका विद्रोह शान्त होनेवाला है; क्योंकि उसकी दासता मिटनेवाली है....तब, एकाएक ही, वह बहुत थके हुए प्राणी की तरह मेरे वक्ष पर सिर टेककर रोया...

पागल! पागल! किन्तु कितना स्नेहपूर्ण पागल! रोया, जीवन के लिए नहीं, मुक्ति के लिए नहीं, उन रहस्य-पूर्ण आकारों के लिए नहीं, रोया इसलिए कि वे उसे मेरे पास से ले जाँयगे कि उसे अपनी अन्तिम निद्रा और अन्तिम (या सर्वप्रथम?) जाग्रति मेरी छाती पर नहीं प्राप्त होगी, रोया कि वह मुझसे बिछुड़ जायगा...

मैं पत्थर, कठोर पत्थर! और अपनी जड़ता के ज्ञान से ही, अपनी गतिविवशता से ही, मैं उस दिन पिघल जाने के कितना निकट आ गई....पर पत्थर कविता-कहानी के बाहर कभी नहीं पिघलता, मैं भी पिघल नहीं सकी, उसके भस्म कर देनेवाले आँसुओं से भी नहीं...

किन्तु मैंने जो किया, वह उससे कहीं अधिक व्यथापूर्ण, कहीं अधिक यातनाभिभूत था—मैं उन आँसुओं को पी गई...

उन्हींकी ज्वाला से, मेरा वक्ष अभी झुलसा हुआ है। पर वह उन्हें देखने को नहीं है, वह मुझे अकृतज्ञ समझता हुआ ही चला गया...

× × ×

स्मृति मानो अफीम की तरह का एक सम्मोहक विष है, वह एक विचित्र, थकी हुई-सी तन्द्रा लाती है, और ज्यों-ज्यों हम उसके आगे नमित होते जाते हैं, त्यों-त्यों विष का प्रभाव द्रुततर होता जाता है और फिर सोते समय एकाएक वह पूरा हो जाता है, भीतर कुछ नष्ट कर डालता है...

मैं कह चुकी हूँ कि मैं कुछ नहीं हूँ और सब कुछ हूँ। प्रत्येक व्यक्ति मुझमें अपने प्राणों का, अपनी भावना का, प्रतिरूप पाता है मैं कृष्ण-

मन्दिर नहीं हूँ, न दासता की संकेत हूँ । मैं हूँ केवल एक दर्पण, किन्तु काले शीशे का दर्पण...मुझमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा भर देखता है, बिलकुल यथा-तथा, बिना किसी भी प्रकार की परिवर्त्तन या गोपन-चेष्टा के; किन्तु आत्मा की नग्नता में, निरावरणता में, बाह्य आडम्बर दर्प, प्रतिमा और शक्तिमत्ता की हीनता में...नंगे सत्य की तरह अकोमल और कृष्णकाय...

एक और की बात कहती हूँ । वह मेरे पास बहुत दिन नहीं रहा, किन्तु मेरे पास आने से पहले भी वह कुछ काल तक जेल में रह चुका था। वह आया ही, तो मैंने देखा, उसने अपने भीतर एक छोटी-सी मंजूषा अलग बन्द कर रखी है; और वह समझता है, उसमें बहुमूल्य वस्तुएँ हैं ; वह समझता है, वे परकीय आँखों से अत्यन्त सुरक्षित हैं...पर मैंने पहले-पहल-उन्हींकी परीक्षा ली, और मैंने देखा, कि उनमें महत्त्वपूर्ण वस्तु कोई नहीं है—यदि किसी भावना की प्राचीनता और अनिवार्यता ही उसे महत्त्वपूर्ण नहीं बना देती तो।

मैंने देखकर और जाँचकर कहा, 'कायर !'

यह बात मेरे अतिरिक्त कोई नहीं जानता था । संसार उसे एक सच्चा वीर, एक नेता, पौरुष की सम्पूर्णता का पुरुष समझता था । किन्तु मैंने देखा—

मेरी ललकार उसके प्राणों ने सुन ली । हमारे बाह्य आकार अपनी चेतनाएँ खो चुके हैं, इसलिए परस्पर व्योवहार नहीं कर सकते, किन्तु हमारे प्राण अब भी वह क्षमता रखते हैं, और स्वतन्त्र रूप से अपना व्यवहार जारी रखते हैं । तो उसके प्राणों ने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं कायर नहीं हूँ । मैं कायर शरीर में बसनेवाली वीर आत्मा हूँ । मैं शारीरिक कष्ट से डरता हूँ, पर मुझमें नैतिक बल है ।'

मैंने कहा, तुम किसी भी प्रकार के आघात से डरते हो । तुम जो विद्रोही बने हो, उसका कारण कोई नैतिक विशालता या बौद्धिक विश्वास या शारीरिक बल नहीं है, उसका कारण है केवल अघात के डर की प्रति-क्रिया मात्र !

उसके प्राण. मानो किसी अभौतिक चादर से अपने को ढाँपने का यत्न करते हुए बोले, 'नहीं ! मैं इसलिए नहीं रोता कि मैं आघात से डरता हूँ; मेरी खिन्नता का कारण है कि मैं इतना कुछ तोड़ता और विनष्ट

करता हूँ, इतनों की इतने भयंकर आघात पहुँचाता हूँ...

मैं हँसी। उसके प्राणों ने भी अनुभव किया कि उस हँसी में एक कठोरता है—वह आखिर एक पत्थर की ही हँसी तो थी! मैंने कहा, 'तुम कायर ही नहीं, झूठे भी हो!' पर वह अपने में इतना लीन था, अपने को धोखा देने में इतना पटु कि उसने सुना नहीं, कोई लम्बी-चौड़ी स्कीम लेकर उसी पर विचार करने लगा....मैंने फिर कहा, जो आज के दिन इसलिए रोते हैं कि उनके हाथों से पाप हो रहे हैं, कल इसलिए रोएँगे कि उनका आत्मा भूखा मर रहा है! क्योंकि स्वस्थ और सक्षम पुरुष को रोने का समय कहाँ है? मैं यह अनुभव से कहता हूँ, क्योंकि मेरा आत्मा भी रुग्ण और भूखा है...' पर उसने यह भी नहीं सुना....

एक और दिन की बात है, मैंने देखा, वह मेरे मध्य में चुप खड़ा है। मैंने यह भी देखा, उसके प्राणों पर एक परदा छाया हुआ है—यानी वह किसी विषय में फिर आत्म-प्रवञ्चना कर रहा है...

मैंने उसके विचार पढ़े। वह, अपनी ओर से अब भी क्रान्ति के विषय में विचार कर रहा था। किन्तु उनका धरातल सत्यता से इतनी दूर, बौद्धिक बारीकियों में इतना उलझा हुआ, और मानव-जाति के प्रति ऐसी विमुख उपेक्षा-पूर्ण कि मैंने अपना साधारण नियम तोड़कर उन्हें बिखेर दिया और कहा, 'युवक, वह धोखा है, उधर मत देखो, उतनी दूर! अपने सामने, अपने पास, अपने सब ओर देखो, उसमें मिल जाओ! तुम्हारा जन्म पृथ्वी की अक्षय कोख से हुआ है, तुम्हारा पोषण भी आकाश से नहीं, धरती से ही हो सकता है....शक्ति, प्रेरणा, सूर्य की प्रखर दीप्ति आकाश से आती है अवश्य; किन्तु केवल धरती को जीवन का एक आधार देने के लिए....'

इसने सुना, पर माना नहीं। मैंने देखा, उसके नख अकारण और अकामतः मेरे वक्ष पर लिख रहे हैं, Get thee behind me, satan... हा अन्याय! पर मेरा विचारकर्त्ता कौन है?

तब वह दिन भी आ गया जब वह अपने पापों के लिए नहीं, अपनी भूख के लिए रोया...

वह स्नान कर चुका था। हाथ में शीशा लिए हुए, वह स्थिर दृष्टि से उसमें अपने प्रतिबिम्ब को देख रहा था। उसका शरीर तना हुआ, सिर कुछ पीछे मुड़ा हुआ, आँखें अर्धनिमीलित,—उसकी मुद्रा में कुतूहल

पूर्ण पर्यवेक्षण के अतिरिक्त कुछ नहीं था। किन्तु मैंने जाना, उसका हृदय दर्पण में प्रतिबिंबित अपनी छाया का आलिंगन कर रहा था, एक कोमल लालसा से कह रहा था, 'मैं तुम्हें चाहता हूँ, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ....और एक डर से वह घबरा रहा था—'तुम नष्ट हो जाओगे, व्यर्थ खो जाओगे, अपूर्त्ति में भर जाओगे...'

मैंने सहसा उसे रोककर कहा, 'युवक! तुममें एक ही शक्ति, एक पौरुष-प्रेरणा, है जो अपना fulfilment मानती है। वह विद्रोह से भी मिल सकता है, और इस— इस प्रेम से भी; पर दोनों से नहीं! प्रेम की शक्ति उस नागिन के सिर की तरह है, जो उसे एक बार देख लेता है, वह फिर जड़ हो जाता है...' मैंने यह नहीं सोचा कि यदि ऐसा है, तो फिर मेरी शिक्षा का क्या लाभ है? वह तो उस मूर्ति को देख चुका है, जिसके प्रति अन्धा रहना अन्धेपन से बचे रहना है...

मैंने उसे 'प्रेम' तो कहा; पर वह प्रेम नहीं था, वह थी एक और शक्ति, जो अन्धकार से उत्पन्न होती है, और जो अधिकार पा लेने पर अन्धकार की ओर, शून्यत्व की ओर, अधोगमन की ओर खींचती है...

जाने दो। कोई अन्धा है, तो हमारे रो-रोकर अपनी आँख फोड़ लेने से उसे कुछ दीखेगा नहीं। उसके अन्धेपन को ही फलने दो, उसकी वही गति है। और जिनके आँखें हैं....

× × ×

वे एक तरह से अलग हैं।

इस अलगाव का पता सहसा नहीं लगता, क्योंकि निर्बलताओं में बँधे इस संसार में हम निर्बलताएँ ही देखते हैं, और निर्बलता के क्षण में आँखें होने या न होने से कोई विशेष भेद नहीं होता...

सच्चे विद्रोही और साधारण व्यक्ति में एक बहुत बड़ी समानता है—एक समानता जिससे उनकी आत्यन्तिक विभिन्नता प्रखर दीप्ति से चमक जाती है—कि विद्रोही अपनी कमजोरी के क्षण में वह इच्छा करता है जो कि साधारण व्यक्ति अपनी शक्ति के चरम विकास में युक्ति की, बचाव की, और छुटकारे की इच्छा, इस झंझट से, इस उलझन से, इस प्रपीड़न और यातना और अपवित्रता से भरे जीवन और संसार से निकल भागने की तीव्र, भयंकर आत्मा को झुलसानेवाली इच्छा....

क्योंकि, विद्रोही अपनी सारी दीप्ति और तेज अपने भीतर से पाता है,

हुआ था कि यह पहला व्यक्ति है जो मेरे वक्ष पर अपना नाम नहीं लिख गया है; उससे पूर्व जितने आये थे, वे भी अपना नाम कोयले से या पेंसिल से, या नाखून से ही खोद-खोदकर लिख गये थे, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया....शायद उसे परवाह नहीं थी कि उसे कोई स्मरण करता है या नहीं; या शायद अपने प्रकाण्ड आत्मविश्वास में वह जानता था उसे मेरे वक्ष पर यह छोटी-सी छाप छोड़ जाने की आवश्यकता नहीं है; या शायद विद्रोही की संसार के प्रति अवज्ञा के कारण ही—एक अन्तिम अवमानना की तरह....

× × ×

एक अन्तिम स्मृति....

वह भावुक था, किन्तु उसका मोह टूट चुका था, वह खट्टा हो गया था। इतना नहीं कि उसके लिए जीवन निस्सार हो जाय, पर इतना नहीं कि वह निरोह होकर पाप करने में प्रवृत्त हो जाय, पर इतना अवश्य कि उसके पुराने नैतिक आदर्श बिखर जायँ, और नये आदर्श उनका स्थान लें—आदर्श जो वास्तव में किसी प्रकार की भी आदर्शवादिता के शत्रु हैं....

ऐसा था मानो उसके लिए संसार के मुख पर पहना हुआ कोई छद्म मुख (mask) उतर गया हो, या मानो उसका मनःक्षेत्र एकाएक विस्तृत होकर मानवी चेतना से परे की, ऊपर और नीचे दोनों ओर परे की, अनुभूति शक्ति पर गया हो, और इतना ही नहीं उस अनुभूति को वह पहले की अपेक्षा कम काल में प्राप्त कर लेने में समर्थ हो गया हो।

उसका नाम था दिनमणि। वह आया था केवल दो दिन के लिए, किन्तु मैं उसे नहीं भूलती। जब वह उठकर बाहर चल दिया तब उसने लौटकर मेरी ओर देखा भी नहीं, चुपचाप चला गया। मैंने सोचा, क्या है? जब मुझे याद करनेवाले आते हैं तब भूलनेवाले भी होने चाहिए, जब मेरे प्रति एक पूजाभाव रखनेवाले होते हैं, तब ऐसे उपेक्षाभाव रखनेवाले भी तो होने चाहिए....पर नहीं, दूसरे दिन मैंने देखा—यानी एक सारीरिक अनुभूति से अनुभव किया—कि वह दूर पर, बड़ी दीवार के बाहर, बैठा है—उसी स्थान पर जहाँ कभी सुशील आँख लगाये रहता था किसी एक छाया के लिए, जहाँ आकर वह छाया कभी-कभी ससंभ्रम की दृष्टि से मेरी ओर देख लेती थी और सुशील को एक सुखद शान्ति दे जाती थी....

दिनमणि को वहाँ बैठे देखकर मुझे जिज्ञासा हुई कि यह क्यों आया है। तब मैं उसकी आत्मा में मूक वार्त्तालाप करने लगी, और मैंने जाना कि वह कितना थका हुआ है, किन्तु हारता नहीं है। संसार में जाकर वह अनुभव कर रहा है कि वह संसार से बाहर है, किन्तु उसे छोड़ता नहीं। मैंने पूछा, 'दिनमणि, तुम्हें क्या हो रहा है ?'

उसकी आत्मा ने उत्तर नहीं दिया, केवल एक आँखभर मेरी ओर देख दिया। उसका सिर, उसका मन, उसकी समूची आत्मा एक दबी हुई, स्पन्दनयुक्त और कभी-कभी तीखी हो जानेवाली, एक अद्भुत पीड़ा से दुख रहा था।

हमारा वार्त्तालाप होने लगा :

मैंने पूछा, 'तुम सुखी क्यों नहीं थे ?

' यह देखो, संसार का खोखलापन। इधर, और इधर, और इधर' उसने आँखों-ही-आँखों से संसार का फेरा करते हुए कहा—'यह देखो, इसकी झूठी प्रशंसा और निस्सारता, और यह देखो मेरी मौन ग्लानिपूर्ण लज्जा जिससे मैं इसे सहे जाता हूँ, और जो इसलिए अधिकाधिक होती जाती है कि मुझे बड़े यत्न से इसे चुपचाप सहना पड़ता है, ताकि मैं किसीको कष्ट न पचाहुँऊँ; यद्यपि मेरा हृदय चाहता है इस पर आक्रमण करना, इसका विध्वंस करके, इसे तहस-नहस करके जला डालना...'

'तुम अपने सच्चे भावों को छिपाकर चुपचाप यह सहते हो। यह क्या ढोंग नहीं, hypocrasy नहीं है ?'

'है। किन्तु ढोंग हमेशा ही दुर्बलता नहीं होती—कई बार यह शक्ति का और बड़ी गहन शक्ति का द्योतक होता है, और ऐसी अवस्था में जो ढोंगी नहीं होता, वह कायर और दग़ाबाज़ होता है....मैं कहता हूँ, सचाई, अमाया, जितनी बार नैतिक बल से उत्पन्न होती है, उतनी ही बार नैतिक दुर्बलता, कायरता से भी....'

'पर, यदि ऐसा है, तो तुम्हें संसार को देखकर पीड़ा क्यों होती है ? वह पीड़ा तो ढोंग नहीं है...'

'नहीं, वह इसलिए है कि मैं अपने विश्वास में दृढ़ होकर भी उस तक पहुँच नहीं पाता ! क्योंकि जो जीवन मैंने देखा है, उसने मेरे प्रणों को भी नहीं, संसार को ही निराकरण कर दिया है...उसकी ख़ून से लथपथ और वीभत्स कुरूपता के प्रति मैं आँखें बन्द नहीं कर पाता...

'यह कब से ? तुम क्या सदा से ऐसे थे ?'

'नहीं। जब मैं जेल गया (पाँच वर्ष हुए) ऐसा नहीं था, तब सब कुछ भिन्न था—यद्यपि यह नहीं है कि संसार बहुत बदल गया है, यदि मैं ही बहुत बदला हूँ। केवल किसी अज्ञात क्रिया द्वारा वह पहले की तरुण आवेगपूर्ण उद्धतता जैसे खो गई है, वह अपने से सम्पूर्ण, सदर्प आत्म-गौरवमय विश्वास, उन कुछ एक सिद्धान्तों में विश्वास जिनके लिए मैंने त्याग और संग्राम किया था,—मानो नष्ट हो गया है। आज वह सब कुछ नहीं है ; आज मैं सोच सकता हूँ, किन्तु उन सच्चे विचारकों की भाँति जो समझते हैं कि प्रत्येक प्रश्न के एक से अधिक पहलू होते हैं, और इतना ही नहीं, उन अनेक पहलुओं को देखते भी हैं...और जितना मैं सोचता हूँ, उतना ही सन्देह विकल्प बढ़ता है...'

'तुम्हारी इस प्रगति को कोई समझता है ?'

'मैं तो समझता हूँ।'

मैंने फिर पूछा, 'संसार समझता है ?'

दिनमणि की आत्मा एक फीकी हँसी हँसी। 'संसार ! संसार में मेरा व्यवहार ऐसा है कि मानो मैं आज जो कहता हूँ, उसे यह पाँच वर्ष बाद सुनता है—मेरे और संसार के मध्य में एक अलीक तथ्य की भाँति सदा उन पाँच वर्षों का अन्तर रहेगा जो मैंने जेल में बिताये हैं...'

मैं और प्रश्न नहीं पूछ सकी। चुपचाप दिनमणि को देखने लगी और सोचने लगी कि ऐसी समस्याओं का कभी हल होगा या नहीं... संसार में, शासन-संस्थाएँ बदलती ही रहेंगी...साथ-ही-साथ स्वाधीनता के आदर्श भी बदलते रहेंगे; तब सदा ही पूर्ण स्वाधीनता में कुछ न्यूनता रहेगी, उसे पूरी करने के लिए उद्धत और मनचले युवक भी उठते ही रहेंगे....बाह्य प्रश्नों का, राजनैतिक समस्याओं का हल तो अनेक बार होगा और फिर होगा, किन्तु मानव-हृदय की वह समस्या, यह ऊर्ध्वगति या पागलपन, कब कैसे मिटेगा—यह तो सदा ऐसा ही बना रहेगा; यही तो मानव-हृदय की स्पन्दन-गति है, जिसके बिना वह नहीं चलेगा...

तब तो, मुझे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी ? मैं सदा ही दूसरों को पीड़ा देकर अपने पीड़ा के बोझ को चुकता करती रहूँगी, किन्तु कभी कर नहीं पाऊँगी ; बूढ़ी और कमजोर होती जाऊँगी, किन्तु मरूँगी नहीं—अभिशप्त टाइथोनस की भाँति कुढ़-कुढ़कर रह जाऊँगी—निर्दय अमरत्व एक मात्र मुझे ही सालेगा...

एकाएक मैंने सुना दिनमणि बिलख-बिलखकर रो रहा है, और अपने से एक निराश प्रश्न पूछ रहा है, 'मैं क्यों यहाँ आया, मैं यहाँ क्या करने आया'....ओह वह रात्रि की घोंट देनेवाली नीरवता, ओह उस प्रश्न की यन्त्रणा..उसके लिए भी और मेरे लिए भी, जिसे याद आ रहा है कि मैं अमर हूँ, और मेरे अमरत्व का बोझ मुझ पर से उठ नहीं सकता....

दिनमणि उठा। एक बार उसने अत्यन्त स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखा—देखता रहा। फिर भयंकर अभिशापमय स्वर में बोला, 'मैं नहीं आऊँगा, नहीं आऊँगा, इधर उन्मुख नहीं होऊँगा! प्रत्येक प्रेरणा मुझे इधर धकेलती है। क्यों धकेलती है? क्यों चाहता हूँ कि संसार में लौट जाऊँ अपने कारावास में?) पर मैं नहीं आऊँगा, मैं जीते रहकर ही अपनी मृत्यु यन्त्रणा भोगूँगा...'

और चला गया।

मैं चुप रही, शान्त रही। पत्थर हूँ—पत्थर रही...पर, मैंने इतने जीवन में जो कुछ अनुभव प्राप्त किया है, वह विद्रोह कर उठा...तब मैंने कहा ही तो—विवश होकर कहा...

'पागल! पागल! नहीं आओगे, अपनी माता के पास नहीं आओगे, जो तुम्हें Suckle करती है और प्यार करती है; जो निर्दय और कठोर घृणा से तुम्हें संसार में धकेलती है कि तुम काम करो और दुख भोगो और लड़ो और फिर उसके पास लौट आओ। उसके अकेलेपन में...उस माँ के पास नहीं आओगे'...

पर वह चला गया—उस समय उसने कुछ नहीं सुना। पर मैं अपनी बात पूरी कर डालने के लिए बोलती गई—क्योंकि मैं जानती हूँ कि कोई अपने मन में निश्चय नहीं कर सकता कि वह मेरे पास आयेगा या नहीं....यह निश्चय मैं करती हूँ, और मेरी सहायक होती है मानव-हृदय की भूख...दिनमणि ने आज नहीं सुना, पर किसी दिन उसके प्राण ही उसे यह सुनायँगे....

मैं कहकर चुप होगई। और निविड़ रात्रि में तारों द्वारा बढ़ाये हुए अन्धकार की ओर उन्मुख होकर सोचने लगी—उस तारापट में अपना भी एक अमर आँसू गूँथने लगी, जो कि मेरी जीवनी का सार और मेरी कहानी का सब गूढ़तम सत्य, उसका अन्त है; एक आँसू जो नीरवता में बोलता है, अन्धकार से चमकता है, विस्मृति में जगाता है, और जो

नियति के वक्ष पर लिखता है मेरी एक मात्र स्मरणीय बात, मेरी एक मात्र सन्देश....

कि मैं कहती हूँ, तुम आओगे मेरे पास, और फिर जाओगे और फिर आओगे ; तुम—और तुम—और तुम....

कि मैं कहती हूँ, तुम आओ। मैं तुम्हारा आह्वान करती हूँ दुर्निवार आह्वान। जब तुम लौटोगे, तो एक आहत और रुग्ण आत्मा लेकर ; तब मैं हँसूँगी और तुम रोओगे ; पर मेरी हँसी में बद्ध नियति का नैराश्यवाद होगा, और तुम्हारे रोने में नवजीवन की अनुभूति का रस... मैं हँसूँगी जैसे प्रसूति-काल में मरती हुई माता वह सुख-समाचार सुनकर हँस उठती है एक उन्मत्त और fragic हँसी ; तुम रोओगे जैसे नवजात शिशु संसार की असह्य सजीवता और ज्योति को देखकर एकाएक रो उठता है...

कि मैं कहती हूँ, यहीं मैंने अपने पत्थर के जीवन में सीखा है, पत्थर के आँसू में खींचा है, और पत्थर की कठोरता से तुम्हें सिखाऊँगी....'